रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर
★ १९९५ ★

प्रबन्ध संपादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी करुणात्मानन्द

वर्ष ३३
अंक ४

वार्षिक १५/- एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष . २५२६९, २४९५९, २४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंग नगर, रायपुर

कम्पोजिंग : लेज़रपोर्ट कम्प्यूटर्स, शंकर नगर, रायपुर

तृष्णा की महिमा

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरिर्धातवो
निस्तीर्णं सरितांपतिनृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णे सकामा भव॥

– गड़े हुए धन के लोभ में मैंने धरती को खोदा, स्वर्ण पाने को मैंने पहाड़ी धातुओं को गलाया, व्यापार के लिए मैं समुद्र-पार गया, राजाओं की खिदमत की, मंत्रसिद्धि के निमित्त रात-रात भर श्मशान में बैठा रहा; परन्तु मुझे एक कानी कौड़ी भी नहीं मिली। अतः हे तृष्णे! अब तो सन्तुष्ट हो जा।

– भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' - ३

विवेक - गीति

'विदेह'

— १ —

(यमन-कहरवा)

श्रीरामकृष्ण चरणारविन्द, मधुपान निरत सानन्द।
हे नर-नारायण के पूजक, आचार्य विवेकानन्द।।
हे योगीश्वर हे ज्ञानसिन्धु हे, भक्तराज हे दीनबन्धु,
सागर समाधि के स्नातक हे, सच्चित् स्वरूप सुखकन्द।।
हे जगज्जयी हे जगपावन, हे जगसेवक हे जगजीवन,
युगधर्म यंत्र के वादक हे, नव राग ताल नव छन्द।।
पूरब की प्रज्ञालोक लिए, तुम पश्चिम जाकर उदित हुए,
अज्ञान तिमिर भय नाशक हे, आदित्य सतेज अमन्द।।
सेवा का अभिनव मंत्र दिया, जन मन को शुद्ध स्वतंत्र किया,
प्रज्ञा का बिखराया तुमने, सुन्दर सुवास मकरन्द।।

— २ —

(कौशिया-कहरवा)

वीरेश्वर शिव उतरे भू पर, लेकर रूप विवेकानन्द ।
शान्ति प्रतिष्ठा होगी जग में, मिट जायेंगे भय-छल-छन्द।।
त्रिविध शान्ति का कर त्रिशूल धर, वेद वृषभ पर आरोहण कर।
चतुर्योग का डमरु बजाते, विचरण किया विश्व सानन्द।।
ज्ञान जाह्नवी सिर से उतरी, शत शत धाराओं में बिखरी,
हर हर हर कल कल ध्वनि करती, हरती धरती के दुख-द्वन्द।।
मोचन करने जन लोचन जल, पीते रहे सतत हालाहल,
सबको मुक्ति मार्ग दिखलाया, लोग धन्य कृतकृत स्वच्छन्द।।

(जस्टिस सुब्रह्मण्य अय्यर को लिखित)

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू
शिकागो,
३ जनवरी १८९५

प्रिय महाशय,

प्रेम, कृतज्ञता और विश्वासपूर्ण हृदय से आज मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। मैं आपसे यह पहले ही बता देना चाहता हूँ कि आप उन थोड़े मनुष्यों में से एक हैं, जिन्हें मैंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से दृढ़ विश्वासी पाया। आपमें पूरी मात्रा में भक्ति और ज्ञान का अपूर्व सामंजस्य है। इसके साथ ही अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने में भी आप पूरे समर्थ हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आप निष्कपट हैं, और इसलिए मैं अपने कुछ विचार आपके सामने विश्वासपूर्वक उपस्थित करता हूँ।

भारत में हमारा कार्य अच्छे ढंग से शुरू हुआ है और इसे न केवल जारी रखना चाहिए, बल्कि पूरी शक्ति के साथ बढ़ाना भी चाहिए। सब तरह के सोच-विचार के बाद मेरा मन अब निम्नलिखित योजना पर डटा हुआ है। पहले मद्रास में धर्म-शिक्षा के लिए एक कॉलेज खोलना उचित होगा, फिर इसका कार्यक्षेत्र धीरे धीरे बढ़ाना होगा। नवयुवकों को वेद तथा विभिन्न भाष्यों और दर्शनों की पूरी शिक्षा देनी होगी, इसमें संसार के अन्य धर्मों का ज्ञान भी शामिल रहेगा। साथ ही एक अंग्रेजी और एक देशी भाषा का पत्र निकालना होगा, जो उस विद्यालय के मुखपत्र होंगे।

पहला काम यही है, और छोटे छोटे कामों से ही बड़े बड़े काम पैदा हो जाते हैं। कई कारणों से मद्रास ही इस समय इस कार्य के लिए सबसे अच्छी जगह है। बम्बई में वही पुरानी जड़ता आ रही है। बंगाल में यह डर है कि अब वहाँ जैसा पाश्चात्य विचारों का मोह फैला हुआ है, उसे देखते हुए कहीं उसके विपरीत वैसी ही घोर प्रतिक्रिया न शुरू हो जाय। इस समय मद्रास ही जीवनयात्रा की प्राचीन तथा आधुनिक प्रणालियों के यथार्थ गुणों को ग्रहण करता हुआ मध्यम मार्ग का अनुसरण कर रहा है।

भारत के शिक्षित समाज से मैं इस बात पर सहमत हूँ कि समाज का आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। पर यह किया कैसे जाय? सुधारकों की

सब कुछ नष्ट कर डालने की रीति व्यर्थ सिद्ध हो चुकी है। मेरी योजना यह है – हमने अतीत काल में कुछ बुरा नहीं किया, निश्चय ही नहीं किया। हमारा समाज खराब नहीं, बल्कि अच्छा है। मैं केवल चाहता हूँ कि वह और भी अच्छा हो। हमें असत्य से सत्य तक अथवा बुरे से अच्छे तक नहीं, वरन् सत्य से उच्चतर सत्य तक, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम तक पहुँचना है। मैं अपने देशवासियों से कहता हूँ कि अब तक जो तुमने किया, सो अच्छा किया, अब इस समय और भी अच्छा करने का मौका आ गया है।

जात-पाँत की ही बात लीजिए। संस्कृत में 'जाति' का अर्थ है वर्ग या श्रेणीविशेष। यह सृष्टि के मूल में ही विद्यमान है। विचित्रता अर्थात जाति का अर्थ ही सृष्टि है। **एकोऽहं बहुस्याम** – 'मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ', विभिन्न वेदों में इस प्रकार की बात पायी जाती है। सृष्टि के पूर्व एकत्व रहता है, सृष्टि हुई कि वैविध्य शुरू हुआ। अतः यदि यह विविधता समाप्त हो जाय, तो सृष्टि का ही लोप हो जायगा। जब तक कोई जाति शक्तिशाली और क्रियाशील रहेगी, तब तक वह विविधता अवश्य पैदा करेगी। ज्योंही उसका ऐसी विविधता का उत्पादन करना बन्द होता है, या बन्द कर दिया जाता है, त्योंही वह जाति नष्ट हो जाती है। जाति का मूल अर्थ था – प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति को, अपने विशेषत्व को प्रकाशित करने की स्वाधीनता और यही अर्थ हजारों वर्षों तक प्रचलित भी रहा। आधुनिक शास्त्र-ग्रन्थों में भी जातियों का आपस में खाना-पीना निषिद्ध नहीं हुआ है; और न किसी प्राचीन ग्रन्थ में उनका आपस में ब्याह-शादी करना मना है। तो फिर भारत के अधःपतन का कारण क्या था? – जाति सम्बन्धी इस भाव का त्याग। जैसे गीता कहती है – जाति नष्ट हुई कि संसार भी नष्ट हुआ। अब क्या यह सत्य प्रतीत होता है कि इस विविधता का नाश होते ही जगत् का भी नाश हो जायगा?

आजकल का वर्ण-विभाग यथार्थ में जाति नहीं है, बल्कि जाति की प्रगति में वह एक रुकावट ही है। वास्तव में इसने सच्ची जाति अथवा विविधता की स्वच्छन्द गति को रोक दिया है। कोई भी दृढ़मूल प्रथा अथवा किसी जातिविशेष का विशेष अधिकार अथवा किसी भी प्रकार का वंश-परम्परागत जातिविभाग उस सच्ची जाति की स्वच्छन्द गति को रोक देता है, और जब कभी कोई राष्ट्र इस अनन्त विविधता का सृजन करना छोड़ देता है, तब उसकी मृत्यु अनिवार्य हो जाती है। अतः मुझे अपने

छोड़ देता है, तब उसकी मृत्यु अनिवार्य हो जाती है। अतः मुझे अपने देशवासियों से यही कहना है कि जाति-प्रथा उठा देने से ही भारत का पतन हुआ है। प्रत्येक दृढ़मूल आभिजात्य वर्ग अथवा विशेष अधिकारप्राप्त सम्प्रदाय जाति का घातक है – वह जाति नहीं है। 'जाति' को स्वतन्त्रता दो; जाति की राह से प्रत्येक रोड़े को हटा दो, बस हमारा उत्थान होगा। अब यूरोप को देखो। ज्योंही वह जाति को पूर्ण स्वाधीनता देने में सफल हुआ, और अपनी अपनी जाति के गठन में उसने प्रत्येक व्यक्ति की बाधाओं को हटा दिया, त्योंही वह उठ खड़ा हुआ। अमेरिका में यथार्थ जाति के विकास के लिए सबसे अधिक सुविधा है, और इसीलिए अमेरिकावाले बड़े हैं, प्रत्येक हिन्दू जानता है कि किसी लड़के या लड़की के जन्म लेते ही ज्योतिषी लोग उसके जाति-निर्वाचन की चेष्टा करते हैं। वही असली जाति हैं हर व्यक्ति का व्यक्तित्व – ज्योतिष इसे स्वीकार करता है। और हम लोग केवल तभी उठ सकते हैं, जब इसे फिर से पूरी स्वतन्त्रता दें। याद रखें कि इस विविधता का अर्थ वैषम्य नहीं हैं, और न कोई विशेषाधिकार ही।

यही मेरी कार्य-प्रणाली है – हिन्दुओं को यह दिखा देना कि उन्हें कुछ भी त्यागना नहीं पड़ेगा, केवल उन्हें ऋषियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना होगा और सदियों की दासता के फलस्वरूप प्राप्त अपनी जड़ता को उखाड़ फेंकना होगा। हाँ, मुसलमानी अत्याचार के समय विवश होकर हमें अपनी प्रगति अवश्य रोक देनी पड़ी थी, क्योंकि तब प्रगति की बात नहीं थी, तब जीने-मरने की समस्या थी। अब वह दबाव नहीं रहा, अतः हमें आगे बढ़ना ही चाहिए – सर्वधर्मत्यागियों और मिशनरियों द्वारा बताये गये तोड़-फोड़ के रास्ते से नहीं। वरन् स्वयं के अपने भाव के अनुसार, स्वयं अपने पथ से। हमारा जातीय प्रासाद अभी अधूरा ही है, इसीलिए सब कुछ भद्दा दीख पड़ रहा है। सदियों के अत्याचार के कारण हमें प्रासाद-निर्माण का कार्य छोड़ देना पड़ा था। अब निर्माण-कार्य पूरा कर लीजिए, बस सब कुछ अपनी अपनी जगह पर सजा हुआ सुन्दर दिखायी देगा। यही मेरी समस्त कार्य-योजना है। मैं इसका पूरा कायल हूँ। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक मुख्य प्रवाह रहता है: भारत में वह धर्म है। उसे प्रबल बनाइए, बस दोनों ओर के अन्य स्रोत उसी के साथ साथ चलेंगे। यह मेरी विचार-प्रणाली का एक पहलू है। आशा है, समय पाकर मैं अपने सब विचारों को प्रकट कर सकूँगा। पर इस समय मैं देखता हूँ कि इस देश (अमेरिका) में भी मेरा एक

मिशन है। विशेषतः मुझे इस देश से और केवल यही से सहायता पाने की आशा है: किन्तु अब तक अपने विचारों को फैलाने के सिवा मैं और कुछ न कर सका। अब मेरी इच्छा है कि भारत में भी एक ऐसी ही चेष्टा की जाय।

मै कब तक भारत लौटूँगा, इसका मुझे पता नहीं। मैं प्रभु की प्रेरणा का दास हूँ; उन्हीं के हाथ का यंत्र हूँ।

'इस संसार में धन की खोज मैं लगे हुए मैंने तुम्हीं को सबसे श्रेष्ठ रत्न पाया। हे प्रभो, मैं अपने को तुम पर निछावर करता हूँ।

'प्रेम करने के लिए किसी को ढूँढते हुए एकमात्र तुम्हीं को मैंने प्रेमास्पद पाया। मैं अपने को तुम्हारे श्रीचरणों में निछावर करता हूँ।'

प्रभु आपका सदा-सर्वदा कल्याण करें।

भवदीय

विवेकानन्द

एक आदर्श की आवश्यकता

आदर्श हमसे बहुत दूर हैं और हम उनसे बहुत नीचे पड़े हुए हैं, तथापि हम जानते हैं कि हमें एक आदर्श अपने सामने रखना आवश्यक है। इतना ही नहीं, हमें सर्वोच्च आदर्श रखना आवश्यक है। अधिकांश व्यक्ति इस जगत् में बिना किसी आदर्श के ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते हैं। जिसका एक निर्दिष्ट आदर्श है, वह यदि एक हजार भूलें करता है, तो यह निश्चित है कि जिसका कोई भी आदर्श नहीं है, वह पचास हजार भूलें करेगा। अतएव एक आदर्श रखना अच्छा है। इस आदर्श के सम्बन्ध में जितना हो सके, सुनना होगा; तब तक सुनना होगा, जब तक वह हमारे अन्तर में प्रवेश नहीं कर जाता, हमारे मस्तिष्क में पैठ नहीं जाता, जब तक वह हमारे रक्त में प्रवेश कर उसकी एक एक बूँद में घुल-मिल नहीं जाता, जब तक वह हमारे शरीर के अणु-परमाणु में व्याप्त नहीं हो जाता।

– स्वामी विवेकानन्द

दोष-दर्शन

स्वामी आत्मानन्द

मैंने दिल्ली में एक बार श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्रीमाँ सारदादेवी के जीवन और सन्देश पर चर्चा की थी। माँ ने किसी को शान्ति पाने का उपाय बताते हुए कहा था – "किसी के दोष मत देखना, दोष देखना अपना।" बाद में एक श्रोता ने मुझसे पूछा, "यदि हम किसी के दोष न देखें, तो काम कैसे चलेगा? व्यक्ति गल्ती करेगा और यदि हम उसका दोष बताएँगे, तब तो दोष देखना हो गया। और नहीं बताएँगे तो इससे दुनिया कैसे चलेगी?"

यह सार्थक प्रश्न है। यदि हम दोष न देखें, तो सुधार कैसे होगा? यदि माता-पिता अपने बच्चे के दोष न देखें, तब बच्चे कैसे सुधरेंगे? यदि मैं अपने मातहत काम करनेवाले लोगों का दोष न देखूँ, तो उनको सुधारूँगा कैसे? यदि शिक्षक विद्यार्थी का दोष न देखे, तो विद्यार्थी आगे बढ़ेगा कैसे? बिना दोष-दर्शन के दोषों को सुधारने का कोई उपाय नहीं। तब यह जो कहा जाता है कि दूसरों का दोष न देखो, इसका क्या मतलब?

बात यह है कि दोष देखना भी दो प्रकार का है। एक प्रकार वह है, जिसमें दोष देखकर हम व्यक्ति की निन्दा करते हैं, उस पर हँसते हैं। ऐसा दोष देखने में हमें रस मिलता है। हम चटखारे लेकर दूसरे के दोषों की चर्चा करते हैं। दूसरा प्रकार वह है, जिसे हम चिकित्सक की दृष्टि कहते हैं। चिकित्सक भी रोगी के दोष देखता है, पर हँसने के लिए नहीं। वह दोषों को दूर करना चाहता है। दोषों को देखकर उसे हँसी नहीं आती, न ही दोषों का प्रचार करने में उसे रस मिलता है। वह भी बहुत बारीकी से दोष देखता है, पर उनका निदान करने के लिए। जिस दोष-दर्शन की निन्दा की जाती है, वह पहले प्रकार का है।

तो, उचित और अनुचित दोष-दर्शन की मोटी कसौटी यह है कि जब हम व्यक्ति का हित करने के लिए उसके दोषों को देखते हैं, तो वह उचित है। इसके पीछे हमारी अभिप्राय यही रहता है कि दोषों को बता देने से व्यक्ति अपने को सुधारने के चेष्टा करेगा। पर जहाँ दोष-दर्शन के पीछे व्यक्ति के अहित का भाव हो, वह अनुचित है। ऐसे दोषदर्शन से हमें बचना चाहिए। और इसलिए ही नहीं कि उससे हम व्यक्ति का अकल्याण करते है। बल्कि इसलिए भी कि ऐसा करके हम स्वयं अपना अकल्याण करते हैं। जब

हम दूसरों के दोषों को इस उद्देश्य से देखते हैं कि उन लोगों को हम नीचा दिखाएँ, तो वस्तुतः हम दोष का रसास्वादन कर रहे होते हैं। ऐसा रसास्वादन हमारे अपने भीतर उन दोषों को संक्रामित करने लगता है। फलस्वरूप जिन दोषों का दोषी हम दूसरों को बनाते थे, वे ही दोष हममें पैदा हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में घटी एक घटना स्मरणीय है। उनसे मिलने के लिए कर्ताभजा सम्प्रदाय के लोग आये थे। यह एक वामाचारी सम्प्रदाय था, जो पंच-मकार की साधना में विश्वास करता था। जब वे लोग चले गये, तो नरेन्द्रनाथ, जो कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए, उन लोगों की, उनकी साधना पद्धति की जमकर निन्दा करने लगे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें एकदम रोक दिया, कहा – "क्या व्यर्थ की चर्चा करता है? दूसरों की गन्दगी की चर्चा हमारे मन में भी गन्दगी भर देती है। इसलिए ऐसे दोष-दर्शन और निन्दा-आक्षेप से बचना चाहिए।"

यह दोषों के प्रति सही दृष्टि है। हमें सावधानी रखनी चाहिए कि दूसरे व्यक्ति के जिन दोषों की चर्चा में हमें रस आता है, कहीं वे हमारे भी भीतर तो नहीं पैठ गये हैं।

दोष-दर्शन का एक दूसरा भी सन्दर्भ है, जो हमारे अपने लिए उपकारी है। चिकित्सक, शिक्षक, माता-पिता अथवा बड़े-बुजुर्गों का दोष-दर्शन दूसरों के लिए उपकारी होता है, पर वे स्वयं के उपकार के लिए भी दोष-दर्शन कर सकते हैं। इसका वर्णन गीता के १३वें अध्याय के अन्तर्गत ८वें श्लोक में किया गया है, जहाँ पर कहा गया है – **जन्ममृत्युजराव्याधि दुःख-दोषानुदर्शनम्** – जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग में दुःख और दोष का बार बार विचार करना। यह साधना के क्षेत्र का दोष-दर्शन है, जो शरीर के दोषों को देखने का पाठ सिखाता है। जिस शरीर के प्रति आसक्ति के कारण हम दूसरों के हित का ध्यान नहीं रखते, वह स्वयं कितने दोषों से भरा है, ऐसा बारम्बार विचार हमें अपने शरीर के घेरे से ऊपर उठाता है और व्यापक दृष्टि प्रदान करता है। जिस शरीर को हम इतना सजाते-सँवारते हैं, वह आखिर मल का ही तो हण्डा है, केवल गन्दगी ही तो बिखेरता है, यदि ऐसा दोष-दर्शन रहा, तो उससे हमें स्वार्थ से ऊपर उठकर जीवन के उच्चतर मूल्यों की ओर उन्मुख होने में सहायता मिलती है। हम दोष-दर्शन तो करें, पर सही सन्दर्भों में करें।

श्रीरामकृष्ण - वचनामृत - प्रसंग

(इक्यावनवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ / मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में श्रीरामकृष्ण योगाद्यान मठ, काकुड़गाछी, कलकत्ता में "श्रीरामकृष्ण-कथामृत" पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर "श्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग" के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहें हैं। हिन्दी रूपान्तरकार है श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

वराहनगर मठ, स्वामीजी और रवीन्द्र

वचनामृत के तृतीय भाग के परिशिष्ट में मास्टर महाशय ने वराहनगर मठ का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह ठाकुर की उसी लीलाकथा और वाणी से जुड़ा हुआ है, जिसका वे इतने दिनों से वर्णन करते आये हैं। ठाकुर के शिष्यगण उनके भावों से अनुप्राणित होकर अपने जीवन को अब आगे किस तरह से बिताएँगे, यही बताने के उद्देश्य से उन्होंने वराहनगर मठ का चित्रण किया है। ठाकुर अब स्थूल देह में नहीं हैं, लेकिन उनका भाव प्रत्येक के हृदय में उज्ज्वल रूप से व्यक्त हो रहा है, उनके बीच पहले की ही भाँति तीव्र वैराग्य, ध्यान-धारणा तथा ईश्वरीय चर्चा चल रही है।

ठाकुर के देहावसान के लगभग एक वर्ष बाद वराहनगर मठ की स्थापना हुई। ठाकुर के देहत्याग के बाद उनकी सन्तानगण – विशेषकर जो त्यागमय जीवनयापन करनेवाले थे, पहले तो बिखर गये थे, दिशाहीन हो गये थे। परन्तु नरेन्द्र ने उन्हें फिर से एकत्रित करके श्रीरामकृष्ण के आदर्शानुसार इस संघ की प्रतिष्ठा के लिए प्रमुख रूप से प्रयत्नशील होकर वराहनगर मठ की स्थापना की। सुरेन्द्रनाथ मित्र काशीपुर उद्यान-भवन का किराया दिया करते थे। एक दिन वे बोले, "देखो, तुम लोग एक स्थान निश्चित कर लो, जहाँ सब लोग एकत्र होकर ठाकुर की चर्चा करेंगे और इससे हम जैसे गृही भक्तों के लिए भी शीतल होने एक स्थान हो जायेगा।

मैं जैसे मकान का किराया देता था, वैसे ही दूँगा।" इस तरह वराहनगर मठ की स्थापना हुई। उस समय वराहनगर की आबादी इतनी नहीं थी। एक स्थान पर जंगल-झाड़ी से घिरा हुआ एक जीर्ण तथा परित्यक्त दुमंजला मकान था। भूतों के डर से दिन के समय भी वहाँ कोई नहीं जाता था, साँपों का भय भी था, इसीलिये वह मकान मात्र दस रुपये किराए पर मिल गया था। वह स्थान सबको खूब पसन्द आया था – कलकत्ते के निकट होने के कारण वह भक्तों के लिए सहजगम्य था और साथ ही निर्जन भी। संसार के ताप से दग्ध भक्तगण वहाँ शान्ति पायेंगे, इसी उद्देश्य से वह मकान लिया गया था।

मास्टर महाशय ने वहाँ का एक दिन (९ मई, १८८७ ई०) का चित्र प्रस्तुत किया है। सही नाम को छिपाकर, यहाँ रवीन्द्र नाम के एक भक्त के बारे में लिखा गया है। संसार के मोह में पड़कर रवीन्द्र को छोटी उमर में ही अनेक समस्याओं में पड़कर बहुत से कटु अनुभव हुए हैं। अब उन्हें ठाकुर की बातें याद आ रही हैं। रवीन्द्र ठाकुर के पास आये थे, परन्तु उनसे घनिष्ठ रूप से जुड़ नहीं सके थे। ठाकुर ने उनसे कहा था, "तेरे लिए अभी देर है, अभी तेरा कुछ भोग बाकी है।" ऐसा क्यों कहा, हम नहीं जानते। तथापि स्मरण रहे – उन्होंने कहा था कि जब तक भोग की तीव्र आकांक्षा रहती है, तब तक प्रयत्न करके भी मन को भगवान की ओर नहीं लगाया जा सकता। थोड़ा-बहुत भोग हो जाने पर मन जब शान्त होता है, तब उसे कुछ कुछ भगवान में लगाया जा सकता है। इस तरह का कोई व्यक्ति आने पर ठाकुर कहते, "खा ले, पहन ले।" अर्थात् प्रारम्भ से ही वे उसे वैराग्य का उपदेश नहीं देते थे। वे जानते थे कि प्रारम्भ में ही वैराग्य का उपदेश व्यर्थ जायगा, उसके हृदय में अंकित नहीं होगा। अतः ऐसी परिस्थिति में वे थोड़ा भोग कर लेने को कहते; फिर समय आने पर मन की दिशा फेरकर भगवान की ओर लगाने का उपदेश देते। इसीलिए रवीन्द्र से उन्होंने कहा था, "अभी नहीं, बाद में होगा।" अधिकारी-भेद से भिन्न भिन्न प्रकार के उपदेश ही हितकर होते हैं।

कहना न होगा कि ठाकुर ने केवल वर्तमान को ही नहीं, बल्कि अतीत तथा भविष्य – सब देखकर ये बातें कही थीं। हम लोग केवल वर्तमान को

ही देखकर विचार करते हैं, किन्तु जो लोग त्रिकालदर्शी हैं, उनके लिए तो वर्तमान एक क्षुद्र अध्याय मात्र है। बीच का केवल एक पृष्ठ पढ़ लेने से ही पुस्तक पढ़ना नहीं हो जाता, उसके आगे-पीछे क्या लिखा है, यह सब भी जानना आवश्यक है। इसी तरह जिनकी दूरगामी दृष्टि है, वे आगे-पीछे सब देखते हैं। हमारे प्रचीन शास्त्रकारों ने भी ऐसा ही निर्देश दिया है, वेदों के कर्मकाण्ड में क्रमशः अनेक प्रकार के याग-यज्ञों का निर्देश है। कभी -कभी हमारे मन में प्रशन उठता है कि वेद तो श्रेष्ठ आध्यात्मशास्त्र है, फिर उसमें इतने सकाम याग-यज्ञों का उल्लेख क्यों हुआ है? उसमें त्याग-वैराग्य तथा भगवत्प्राप्ति के पथनिर्देश को छोड़कर धन-सम्पदा आयु कैसे बढ़े, सन्तान कैसे प्राप्त हो – ऐसी बातें क्यों हैं? यहाँ तक कि शत्रु का विनाश करने की विद्या भी वेद में है। इन सबको वेद में स्थान क्यों मिला? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य के मन में ये समस्त भाव हैं। जब मन में भोग-वासना प्रबल होती है, तब उसे भगवान की ओर मोड़ने के लिए उसकी आकांक्षा के अनुरूप कुछ उपदेश देना पड़ता है। इसीलिए उपदेश देने के पहले देखना पड़ता है। जैसा अधिकारी, वैसा उपदेश। भोग की तीव्र आकांक्षा को कैसे मिटाया जाय, इसका उपाय शास्त्रों ने बता दिया है। भोग-वासना से परिपूर्ण मन को भगवान की ओर ले जाने के लिए धीरे-धीरे उसे कुछ भोगों के बीच से ले जाने के सिवा और कोई उपाय नहीं। इसीलिए भोगों की भी व्यवस्था की गयी है। तन्त्रों में तो इसकी पराकाष्ठा मिलती है। इनमें भोग के अनेक उपकरणों की बातें कही गयी हैं। शास्त्र का उपदेश है –

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ ☆

यही सब मनुष्य का स्वभाव है। स्वभाव के विरुद्ध कोई चल नहीं सकता, किन्तु निवृत्ति महाफलदायक है। उस रास्ते पर चलने के लिए धीरे धीरे इन प्रवृत्तियों की दिशा को मोड़कर भगवान की ओर ले जाना होगा। यही ठाकुर का उपदेश है और शास्त्र भी यही कहते हैं।

☆ न मांसभक्षण में दोष है, न मद्यपान में और न ही मैथुन करने में - ये जीवों की सहज प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु इनसे निवृत्त होने पर महाफल की प्राप्ति होती है। (मनुस्मृति ५/५६)

आघात लगने पर रवीन्द्र के मन में वैराग्य का भाव उदित हुआ है। एक बार वे लगातार तीन दिन और तीन रात ठाकुर के पास रहे थे, इसका भी यहाँ उल्लेख हुआ है। बाद में भोग की आकांक्षा में ऐसे डूबे कि ठाकुर को ही भूल गये थे। अब परन्तु चोट लगने पर ठाकुर की बात याद आई है और आज वे तीव्र वैराग्य का भाव लेकर स्वयं को परिवर्तित करने मठ में आये हैं। वह वैराग्य कैसा था – इसी का चित्र यहाँ पर मिलता है। रवीन्द्र के मठ में उपस्थित होने पर, नरेन्द्र आदि ठाकुर के त्यागी सन्तानों ने घृण्य समझकर उनका परित्याग नहीं किया, बल्कि 'सप्रेम स्वागत' किया। और इतना ही नहीं, सबके मन में यही मंगल कामना थी कि उनके जीवन में आध्यात्मिक भाव स्फुरित हो तथा उनका वैराग्य सुदृढ़ हो। नरेन्द्र का विशाल हृदय सबके लिए समान रूप से सहानुभूतिपूर्ण था। उनकी उदारता का यहीं प्रारम्भ दिखाई देता है। बाद में तो हम देखते हैं कि वे घृणित वारांगनाओं के लिए भी कातर होकर प्रार्थना कर रहे हैं।

एक बार दक्षिणेश्वर में हुए ठाकुर के जन्मोत्सव के समय किसी किसी ने शिकायत की कि कुछ वेश्याएँ भी उत्सव में आकर इसके महत्व को घटा रही हैं, अतः उन्हें प्रवेश न देना ही उचित होगा। नरेन्द्रनाथ ने यह सुनकर क्षोभपूर्वक कहा – ठाकुर क्या कुछ थोड़े-से ज्ञानी, गुणी, शुद्ध-पवित्र लोगों के लिए ही आए थे? उनका आगमन तो सभी के लिए हुआ था। विशेषकर जो लोग पतित-घृणित हैं, जिनके लिए कहीं स्थान नहीं है, उनके लिए तो उनका द्वार सदा ही खुला रहेगा। हम चाहते हैं कि वे सभी यहाँ आयें और आकर नवजीवन प्राप्त करें। स्वामीजी की यही अभिव्यक्ति यहाँ पर रवीन्द्र को देखकर प्रकट हुई है।

मास्टर महाशय का कोमल हृदय भी रवीन्द्र का आर्तभाव देखकर विगलित हो उठा था। वे स्वयं ही उन्हें अपने साथ गंगास्नान कराने ले गये; श्मशान में मृत देह दिखाया और वैराग्य-बोधक बातें भी कही। रवीन्द्र यहाँ आए तो हैं, परन्तु उनका मन चंचल है, ध्यान में बैठ नहीं पाते।

वराहनगर मठ का यह चित्र भलीभाँति समझ में आता है। नरेन्द्र गा रहे है - पी ले रे अवधूत हो मतवाला – मास्टर महाशय को लगता है कि वे मानो रवीन्द्र के लिए हितवचन कह रहे हैं। भजन के अन्तिम भाग में है

– हिरन के नाभि-कमल में कस्तूरी है और उसके सौरभ से चारों दिशाएँ आमोदित हैं, परन्तु हिरन हो पता नहीं कि यह सुगन्ध कहाँ से आ रही है। वह मतवाला होकर चारों ओर सुगन्ध के उद्‌गम को खोज रहा है। वह नहीं जानता कि उसका स्रोत उसकी अपनी ही नाभि में है।☆ उसी तरह मनुष्य भी आनन्द के लिए चारों ओर दौड़-धूप कर रहा है। भोग्य-वस्तुओं के पीछे अपना जीवन समाप्त कर रहा है। वह नहीं जानता कि आनन्द का उत्स उसके भीतर ही है – आत्मा से ही समस्त आनन्द निःस्रित तथा व्यक्त हो रहे हैं। मनुष्य को जब इसका पता मिलेगा, तब वह अपने अन्तःकरण की ओर आकृष्ट होगा, अन्तर्मुख होगा। मृग जैसे उसे घास में खोजता फिरता है, सद्‌गुरु के अभाव में मनुष्य भी उसी तरह उस आनन्द को भोगों में खोजता फिरता है। सद्‌गुरु बता देते हैं कि आन्नद कहाँ से आता है और उसको पाने का उपाय क्या है। वे मन की दिशा फेर देते हैं।

क्या सद्‌गुरु के अभाव में मनुष्य भोगों में आनन्द ढूँढ़ रहा है? ऐसी बात नहीं है। हमारे मन में जो भोग-तृष्णा है, उसकी-कुछ-न-कुछ तृप्ति हुए बिना हजारों बार कहने पर भी शास्त्र अथवा सिद्धपुरुष के उपदेश हमारे किसी काम नहीं आते। श्रीरामकृष्ण ने दक्षिणेश्वर में वर्षों तक काम -कांचन-त्याग का उपदेश दिया, अपने जीवन के द्वारा दिखाया भी, परन्तु कितने लोगों के जीवन में वह प्रतिफलित हुआ है? कितने लोग उनके आदर्शों से अनुप्रणित होकर त्याग का जीवन अंगीकार सके हैं? अधिकांश लोग नहीं कर सके हैं। क्योंकि जब तक मन विषयों से वितृष्ण नहीं होता, किंचित् वैराग्य का भाव नहीं आता, तब तक वैराग्य की बातें उनके कानों मे प्रवेश नहीं करती, या फिर प्रवेश करके भी उनके मर्म को स्पर्श नहीं कर पातीं। प्रचलित कथा है – लालाबाबू ने धोबिन के मुख से सुना – दिन चला गया, वासना✝ में आग लगाना है। इसे सुनकर उनके मन में आया –

☆ पी ले रे अवधूत, हो मतवाला, प्याला प्रेम हरिरस का रे।
बाल अवस्था खेलि गँवायो, तरुण भयो नारी-बस का रे।
वृद्ध भयो कफ वायु ने घेरा, खाट पड़ो रह्यो शाम-सकारे॥
नाभि-कमल में है कस्तूरी, कैसे भरम मिटै पशु का रे।
बिन सद्‌गुरु नर ऐसहि ढूँढै, जैसे मिरिग फिरै वन का रे॥

✝ बँगला में केले के पेड़ के तने को वासना कहते हैं। (सं.)

जीवन भी तो बीत गया, मैंने वासना में आग नहीं लगाई। वैराग्य का यह भाव जैसे ही मन में आया, वैसे ही वे सब छोड़कर चल पड़े।

एक बात से क्या वैराग्य हो सकता है? सम्भव है ऐसी बातें लालाबाबू ने पहले भी सुनी हो, पर उसके मन में ऐसा भाव नहीं आया था। इस तरह की वैराग्य की बातें अहर्निश सुनने पर भी हमारे जीवन में उसका कोई फल नहीं होता, वे चरितार्थ नहीं होती। क्यों नहीं होती? इसलिए कि हमारा मन भोगासक्त है। जीवन में वितृष्णा आने मात्र से ही वैराग्य ही नहीं हो जाता। वैराग्य का वास्तविक उद्गम तो एक अन्य रस का पता पाना है। ठाकुर कहते थे, "मिश्री का शरबत पीने के बाद मन, गुड़ की ओर नहीं जाता।" जब तक हमें हरिप्रेम के रस का पता नहीं मिल जाता, तब तक हमें संसार का आनन्द आकृष्ट किये रहता है। समस्त विषयानन्द भगवदानन्द का ही एक क्षुद्र अंश है। ठाकुर कहते थे चुम्बक लोहे को खींचता है। परन्तु एक छोटा चुम्बक एक ओर और एक बड़ा चुम्बक दूसरी ओर खींचे, तो लोहा किधर जायगा? निश्चय ही वह बड़े चुम्बक की ओर आकर्षित होगा। भगवान बड़े चुम्बक है, उनका आकर्षण होने पर अन्य सभी आकर्षण शिथिल हो जाते हैं। पूरे जीवन भर के भोगोपरान्त भी मनुष्य सोचता है कि जीवन को थोड़ा और बढ़ा दिया जाता तो अच्छा होता। पुराण के ययाति-उपाख्यान में यही बात कही गयी है। दीर्घकाल तक भोग करने के बाद भी ययाति तृप्त नहीं हुए। अपने पुत्र पुरु का यौवन लेकर और भी भोग करने के बाद अन्त में वे इसी सिद्धान्त पर पहुँचे –

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। भागवत ९/१९/१४

– मनुष्य की कामना काम्यवस्तु के भोग से शान्त नहीं होती। जैसे घी डालने से अग्नि शान्त न होकर और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, वैसे ही कामनापरायण मन को भोग अर्पित करने से वह कामना सौ-गुनी भड़क उठती है। भोग मन को शान्त नहीं कर सकता - यही शास्त्र का सिद्धान्त है और मनुष्य का अनुभव भी यही बताता है।

इसके बाद वर्णन आता है – नरेन्द्रनाथ स्वयं चैतन्यदेव के प्रेम-वितरण का प्रसंग पढ़ते हैं। एक भक्त कहते हैं, "कोई किसी को प्रेम नहीं ⁄

सकता।'' जिसका अन्तर में अनुभव होता है, जो अन्तःकरण में प्रेरणा का संचार करता है, उसी को प्रेम कहते हैं। ऐसे प्रेम को दूसरा भला कैसे दे सकता है? नरेन्द्रनाथ कहते हैं, "मुझे परमहंसदेव ने प्रेम दिया है।'' जो स्वयं प्रेमस्वरूप हैं, वे अपना प्रेम ठीक उसी तरह दूसरों को दे सकते है, जैसे कि एक वस्तु हाथ से दी जाती है। इतना अवश्य है कि योग्य आधार न होने पर इस प्रेम को ग्रहण करना, उसकी धारणा करना सम्भव नहीं होता। प्रेम प्रत्यक्ष है, उसका स्पर्श किया जा सकता है, मुट्ठी में पकड़ा जा सकता है, दूसरों को दिया जा सकता है – यह विशेषता सामान्य लोगों में नहीं हो सकती। असाधारण लोकोत्तर पुरुष – विशेषकर जब भगवान अवतीर्ण होते हैं, तब उनके लिए यह सम्भव होता है। इच्छा मात्र से वे किसी के हृदय को प्रेम से परिपूर्ण कर सकते हैं। अतः श्री गौरांग के लिए प्रेम का वितरण असम्भव नहीं है। वे सचमुच ऐसा कर सकते थे। धनी जैसे अपना धन वितरण कर सकता है, वेसे ही जो प्रेमस्वरूप हैं, वे अपना प्रेम वितरित कर सकते हैं और किया करते हैं। नरेन्द्रनाथ स्वयं अपना उदाहरण देते हैं कि ठाकुर ने उन्हें प्रेम दिया है।

रवीन्द्र के स्नान करके आने के बाद उन्हें गैरिक वस्त्र दिया गया। उन लोगों के पास सम्भवतः पहनने के लिए दूसरे कपड़े थे भी नहीं; वहाँ दो-एक कपड़े ही रहा करते थे। मठ के बाहर जाते समय वे लोग सफेद कपड़े और मठ के भीतर गेरु पहनते थे। नरेन्द्र मणि से कहते हैं, "अब उसे त्यागियों का वस्त्र पहनना होगा।'' गेरुआ को वैराग्यसूचक त्यागी का वस्त्र कहा जाता है। मिट्टी में पड़े-पड़े जिस कपड़े का रंग मलिन हो जाये, उसे शास्त्र में कहा गया है – विवर्ण वास अर्थात जिसका रंग स्वाभाविक नहीं है। संन्यासी यही विवर्ण वस्त्र धारण करेगा। बाद में, सामान्य जन जिस रंग का व्यवहार नहीं करते, उसी काषाय रंग में डुबाकर त्यागी का वस्त्र रंगा जाता था। काषाय माने ऐसा कोई भी रंग जिसमें कोई अपना कपड़ा नहीं रँगता, जो रंग सामान्य लोगों के उपयोग में नहीं आता। वैराग्यसूचक गेरुआ रंग गेरू मिट्टी से बना है। गिरि अर्थात् पहाड़। यह एक प्रकार की पहाड़ी मिट्टी है, जिसे घिस-घिसकर कपड़े रँगते हैं।

नरेन्द्र का हृदय ऐसा है कि वे रवीन्द्र का वैराग्य देखकर उन्हें त्याग का

वस्त्र दे रहे हैं। यहाँ पर अधिकारी विचार की बात ही नहीं है। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद वे चले गये। सम्भव है, उसके भाग्य में संन्यास न लिखा हो, लेकिन इस चित्रण से यह समझा जा सकता है कि वे संसार के आघात से वैराग्य का भाव लेकर ठाकुर के इस नामांकित स्थान में चले आए थे। ठाकुर के उपदेश उन्होंने सुने थे, पर जीवन में क्रियान्वित नहीं कर पायें। मन की इस आलोड़ित अवस्था में उन्हें ठाकुर की बातें याद आयी थीं। उनका चरित्र चाहे जितना भी अशुद्ध रहा हो, किन्तु ठाकुर की पूत स्पर्शजनित स्मृति उसके जीवन में अपना कार्य करती जा रही है। इनके जीवन की इस दिशा-परिवर्तन को देखकर ही नरेन्द्र को उसके प्रति इतनी करुणा, इतनी सहानुभूति है। उन्हें त्यागी का वस्त्र पहना दिया, ताकि उनके जीवन में यह भाव स्थायी हो जाय। (क्रमशः)

श्रीरामकृष्ण महिमा

घनश्याम 'घन'

महिमा तुम्हारी अपार, श्रीरामकृष्ण।
तुम बिन कौन आधार, श्रीरामकृष्ण ॥
चाँद सूरज सितारे, तुम्हरी महिमा में सारे।
निर्मल बहे गंगधार, श्रीरामकृष्ण ॥
त्रेता के राम तुम हो, द्वापर केश्याम तुम हो।
कलियुग के हो कर्णधार, श्रीरामकृष्ण ॥
विश्व विराट तुम हो, जग के सम्राट तुम हो।
ऊँचा तुम्हारा दरबार, श्रीरामकृष्ण ॥
घर्म प्रसार करने, सबका उद्धार करने।
आये थे तुम रूप धार, श्रीरामकृष्ण ॥
शरणागतवत्सल स्वामी, 'घन' तुम सर्वान्तर्यामी।
वन्दन करूँ मैं बारम्बार, श्रीरामकृष्ण।।

मानस-रोग (२३/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम में प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाले विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके तेइसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के लेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। सं.)

अयोध्या में भगवान राम के राज्याभिषेक की तैयारी चल रही थी कि अचानक एक बाधा उपस्थित हो गई और उस समय रामराज्य का संकल्प पूरा नहीं हो सका। यह बाधा केवल त्रेतायुग की नहीं, आज की भी है। आज भी हमारे अनेक महापुरुष रामराज्य की स्थापना का संकल्प करते है, पर वह चरितार्थ नहीं हो पाता। इसका कारण क्या है? जो त्रेतायुग का सत्य है, वही आज का भी सत्य है। जिन कारणों से त्रेतायुग में रामराज्य बनते बनते रुक गया, उन्हीं कारणों से आज भी पूरी तौर से रामराज्य बनना सम्भव नहीं हो पाता। और अन्त में जिस प्रक्रिया से त्रेतायुग में रामराज्य बन पाया, उसी प्रक्रिया से जब हम चलेंगे, तभी हम क्रमशः इन दुःखों और समस्याओं का समाधान पा सकेंगे। अयोध्याकाण्ड में यही बात हमें सांकेतिक रूप में मिलती है। आरम्भ कहाँ से होता है? गोस्वामीजी एक चित्र प्रस्तुत करते हैं – महाराज दशरथ सिंहासन पर बैठे हुए हैं। यहीं से अयोध्याकाण्ड प्रारम्भ होता है। महाराज दशरथ की सभा में चारों ओर लोग उनकी प्रशंसा कर रहे हैं और सबके मुख से यही वाक्य निकल रहा है –

त्रिभुवन तीनि काल जग माहीं।
भूरिभाग दसरथ सम नाहीं।। २/१/४

– तीनों काल और तीनों लोक में जितने पुण्यात्मा हुए हैं, उनमें से कोई भी दशरथ के समान नहीं हैं और अगली पंक्ति में साधना की दृष्टि से बड़ी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया गया है। प्रशंसा का यह वाक्य जब महाराज दशरथ के कानों में पड़ा, तब उनके मन में क्या प्रतिक्रिया हुई–

रायँ सुभायँ मुकुरु कर लीन्हा। २/१/६

बगल में शीशा रखा हुआ था। महाराज दशरथ ने वह शीशा उठा लिया और उसमें अपना मुँह देखने लगे। कई लोगों को विशेषकर आधुनिक राजकुल के परम्पराओं के सन्दर्भ में पढ़नेवालों को यह बड़ा अटपटा लगता है, किसी लेखक ने तो यहाँ तक लिख दिया कि बेचारे तुलसीदास को क्या

पता था कि राजाओं की सभा कैसी होती है। वे तो निरन्तर राजा महाराजाओं से दूर रहे। अपनी कल्पना से ही उन्होंने ऐसी व्यर्थ और बेतुकी बात लिख दी। क्या कोई राजा सिंहासन पर बैठकर शीशा देखता है? वह तो किसी एकान्त कमरे में शीशा देखकर आयेगा और सिंहासन पर बैठेगा। सभा में सबके सामने थोड़े ही शीशा देखने लगेगा। पर इस वाक्य के द्वारा गोस्वामीजी क्या बताना चाहते हैं? यही कि अकेले में शीशा देखना तो सभी जानते हैं, पर सबके सामने शीशा देखना बड़ा कठिन काम है, साधक तो वही है, जो केवल एकान्त में ही नहीं, सबके सामने भी शीशा देखे। इसका अभिप्राय क्या है? जब कोई व्यक्ति अकेले में भगवान के सामने बैठता है, तो कहता है, "मो सम कौन कुटिल खल कामी"– मैं बड़ा बुरा हूँ, बड़ा पापी हूँ। लेकिन यही बात कोई समाज में उसके लिए कह दे कि वह बड़ा बुरा और पापी है, तो फिर देखिए कि उसका सारा क्रोध कैसे वेग से निकलता है। शीशे के साथ एक बात जुड़ी हुई है कि हर व्यक्ति उसे पसन्द करता है, पर अकेले में – सार्वजनिक रूप से नहीं। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति अकेले में शीशा देखकर प्रसन्न होता है, लेकिन अगर कोई दूसरा कह दे कि जरा शीशे में अपना मुँह तो देखिए, तो झगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा। यह शीशे की बड़ी विचित्रता है। इसका अभिप्राय यह है कि हम अपने दोषों को, अपनी कमियों को जानना तो चाहते हैं, लेकिन अकेले में। हमीं देखें, हमीं जाने, कोई दूसरा न जान पाये। हमारे दोषों को जानकर कोई हमारी आलोचना करे, इससे हम बचना चाहते है। पर दशरथजी धन्य हैं। उन्होंने साहस किया और यह साहस बड़े महत्त्व का है। सब लोग एक स्वर में प्रशंसा कर रहे थे कि दशरथजी के समान महान और कोई नहीं है। तो उसी समय वे सभा में सबके सामने शीशा लेकर देखने लगे कि यह जो इतने मुखों से प्रशंसा हो रही है, उसमें सच्चाई कहाँ तक है! कितनी सुन्दर बात है – एक तो सभा में और दूसरे सिंहासन पर !

जो लोग सिंहासन पर बैठ जाते हैं, वे प्रायः शीशा देखना छोड़ ही देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सिंहासन पर बैठने के बाद तो शीशा देखना और भी जरूरी हो जाता है। पहले जितना देखते थे, उससे कहीं और अधिक शीशा देखने की आदत डालनी चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति सिंहासन पर नहीं है, वह तो केवल अपने अथवा अपने परिवार के लिए है; परन्तु जो सिंहासन पर है, उस पर तो सारे समाज, सारे देश का उत्तरदायित्व है। अतः जिस व्यक्ति का सम्बन्ध अनेक व्यक्तियों से तथा समाज से जुड़ा हुआ है, उसे

तो सजग होकर स्वयं पर दृष्टि डालनी चाहिए कि हम सही हैं या नहीं? हमारे क्रिया-कलाप ठीक हैं या नहीं? इस प्रकार यहाँ जो तीन बातें कही गईं – सार्वजनिक रूप से शीशा देखना, सिंहासन पर बैठकर शीशा देखना और प्रशंसा सुनते समय शीशा देखना – ये तीनों बड़े महत्त्व की और प्रेरणादायी हैं। प्रशंसा सुनते समय अर्थात् दूसरों की आँख से अपने को देखना और शीशा देखने का अर्थ है अपनी आँख से स्वयं को देखना।

दूसरों की आँख से अपने आपको देखने का अर्थ है – दूसरों द्वारा की गयी प्रशंसा को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ बैठना। और इन प्रशंसा करनेवालों का क्या ठिकाना ! नारदजी भगवान से सुन्दरता माँगने के बाद इसी चक्कर में तो पड़ गये थे। तब यदि उसके पास शीशा होता, तो उन्होंने अपना वास्तविक रूप देख लिया होता और आगे चलकर वे संकट में नहीं फँसते। पर उनकी समस्या यही थी कि उनके पास शीशा नहीं था और न शीशा देखने की इच्छा ही थी। भगवान ने कह दिया – मैं तुम्हारा हित करूँगा। बस वे, प्रसन्न हो गये, समझ लिया कि भगवान ने मुझे सुन्दर बना दिया है और बिना दर्पण देखे, बिना आत्म-निरीक्षण किए विश्वमोहिनी की सभा में पहुँच गये। सभा में जाकर नारदजी बैठे, तो शंकर के दो गण भी उनके दाएँ-बाएँ बैठ गये और कहने लगे –

नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ।।
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी।
इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी ।। १/१३३/३-४

– भगवान ने इन्हें कितनी सुन्दरता दी है! राजकुमारी अवश्य ही इन्हें विष्णु समझकर इनके गले में जयमाला डाल देंगी। नारद सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे हैं कि अगल-बगलवाले भी कह रहे हैं कि ये बड़े सुन्दर हैं। इन दाएँ-बाएँवालों से सदा सावधान रहना चाहिए। कौन जाने ये लोग किस उद्देश्य से प्रशंसा करते हैं! डर के मारे करते हैं या चापलूसी करते हैं या फिर व्यंग्य के रूप में करते हैं। नारदजी प्रशंसा सुनकर भूल गये हैं। दोनों तरफ से एक ही स्वर आ रहा है कि ये बड़े सुन्दर हैं और वे दोनों वस्तुतः व्यंग्य कर रहे थे। राजकुमारी ने उनकी वास्तविकता देख ली थी। उन्हें तो नारद से इतनी घृणा हुई कि वे उस ओर गयी ही नहीं। भगवान विष्णु आए, तो विश्वमोहिनी ने उनके गले में जयमाला डाल दी। भगवान उन्हें लेकर चले गये। और तब नारदजी को वस्तुस्थिति का बोध हुआ –

मुनि अति बिकल मोहँ मति नाठी।
मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी।। १/१३५/५

–जैसे अपने गाँठ से मणि गिर जाने पर दुःख होता है, उसी तरह का दुःख नारदजी को हो रहा है। यही मन का काल्पनिक दुःख है। जैसे रात में कोई स्वप्न देखे कि मुझे लाटरी मिल गई है और जागने पर रोने लगे – हाय हाय, हमारी लाटरी खो गयी। अब वास्तव में न तो लाटरी मिली थी और न खोयी है। वह तो केवल कल्पना में मिली थी और कल्पना में ही खो गयी। इसी तरह नारद को न तो राजकुमारी मिली थी और खोई है। उन्होंने मिलने की केवल एक कल्पना कर ली थी, इसलिए उन्हें खोने की वृत्ति सताने लगी। और तब वे प्रशंसकगण, जो अभी तक दाएँ-बाएँ बैठे व्यंगात्मक प्रशंसा कर रहे थे, तुरन्त नारदजी से बोले –

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई।। १/१३४/६

– जरा जाकर शीशे में अपना मुँह तो देख लीजिए। नारद को इतना क्रोध आया कि उनके होठ फड़कने लगे। शीशे में मुँह देखने की सलाह ये लोग पहले न देकर, अब दे रहे हैं। इसका अभिप्राय क्या है? जो हितैषी होगा वह तो पहले ही सलाह देगा कि सभा-समाज में जाने से पहले शीशा देखकर अपना मुँह ठीक कर लो। अगर आपका चेहरा गन्दा हो और कोई परिवार का आदमी देख ले, तो वह यही कहेगा कि बाहर निकलने के पहले शीशा देखकर मुँह साफ कर लीजिए। और अगर किसी के मन में हँसी कराने का हो तो वह पहले तो आपको बाहर जाने देगा और आपकी व्यंग्यात्मक आलोचना होने देगा और तब सलाह देगा कि आपने शीशा नहीं देखा। तब तो वह शीशा देखने की बात व्यंग्य में ही कह रहा है। नारदजी का संकट यही था।

गोस्वामीजी ने एक सूत्र दिया कि दर्पण का लाभ क्या है? दशरथजी के जीवन में इससे तीन बातें आयीं और वे बड़े महत्व की हैं। कौन-सी? दर्पण देखने पर कभी कभी अभिमान भी होता है। कोई व्यक्ति अगर खड़ा होकर बार बार अपने को शीशे में देखे और मन-ही-मन खुश हो कि वाह में कितना सुन्दर हूँ, तो दर्पण ने तो उसके अभिमान को और भी बढ़ा दिया। दर्पण अभिमान घटाने के लिए होना चाहिए, बढ़ाने के लिए नहीं। अभिप्राय यह है कि आत्म-निरीक्षण का हम सदुपयोग कर रहे हैं या दुरुपयोग – यह इसी बात पर निर्भर करता है कि आत्म-निरीक्षण से हमारा अभिमान बढ़ रहा है या घट रहा है। यदि हम आत्म-निरीक्षण करके इसी निष्कर्ष पर

पहुँचे कि हम तो सबसे अच्छे हैं, हममें सारी विशेषताएँ हैं, तो हमने सही अर्थों में आत्म-निरीक्षण नहीं किया, बल्कि अपने अन्तःकरण में आत्मप्रशंसा की एक वृत्ति पाल ली। लेकिन दशरथजी की दृष्टि कहाँ थी? जब उन्होंने सुना कि दशरथ के समान कोई नहीं है, तो उन्होंने दर्पण उठा लिया और, अपने आपको देखा। लोग कह रहे हैं कि दशरथ में सारे गुण हैं, पर दशरथजी ने दर्पण में देखा, मुकुट टेढ़ा है और यह दोष है। लोगों की दृष्टि भले ही न गयी हो, पर दशरथजी की दृष्टि अपने दोष पर गयी। मैं सभा में बैठा हूँ, राजसिंहासन पर बैठा हूँ और मेरा मुकुट एक ओर झुक गया है, असन्तुलित हो गया है। राजा को समत्व में स्थिर रहना चाहिए। मुकुट राजसत्ता का चिन्ह हैं। इसलिए उनके मन में पहली प्रेरणा उत्पन्न हुई कि वे अपने मुकुट को सीधा करें। साधक वह है जो आत्म-निरीक्षण करके अपने मन के असन्तुलन को देख सके और उसे समत्व की प्रेरणा प्राप्त हो। दशरथजी के जीवन में पहली प्रेरणा प्राप्त हुई –

रायँ सुभायँ मुकुरु कर लीन्ह ।।
बदनु बिलोकि मुकुटु सम कीन्हा।। २।१।६

– उन्होंने तुरन्त अपना मुकुट सीधा किया। पर उनकी दृष्टि और भी पैनी है। ज्योंही मुकुट सीधा हुआ तो अचानक सफेद बाल, जो मुकुट से ढँके हुए थे, उन पर उनकी दृष्टि पड़ी।तब उन्होंने सोचा – अरे, सोने के मुकुट की आड़ में सफेदी छिपी हुई है। सोना रजोगुण का प्रतीक है, सत्ता का प्रतीक है और श्वेत रंग सतोगुण का प्रतीक है। उन्होंने सोचा – सत्ता ने मेरे सत्त्व को ढँक लिया था और यह सत्त्व मानो मेरे कान में सन्देश दे रहा है, पर यह स्वर्णमुकुट हमें सुनने नहीं दे रहा था। चलो मुकुट जरा सीधा हुआ तो हमें प्रेरणा प्राप्त हुई। और वह सत्त्व का सन्देश क्या था? एक सफेद बाल कह रहा था – महाराज, कब तक मुकुट सीधा करते रहेंगे, अब इसे उतारिए। इसका अभिप्राय है कि पहली प्रेरणा दोषदर्शन, दूसरी है समत्व और तीसरी प्रेरणा हुई त्याग एवं समर्पण की। और यही साधक के जीवन की सर्वोत्कृष्ट प्रेरणा है।

ईश्वर के प्रति समर्पण की वृत्ति का उदय होना ही दर्पण देखने का फल है। और इसीलिए गोस्वामीजी को दर्पण से इतना लगाव हो गया कि अयोध्याकाण्ड शुरू करते ही उन्होंने गुरुजी से पहली बात यही कही कि बालकाण्ड में तो आपने दृष्टि दे दी थी, लेकिन अब भी मुझे एक वस्तु की कमी अनुभव हो रही है। किस वस्तु की? बोले – 'श्रीगुरु चरन सरोज

रज । – किसलिए? – 'निज मनु मुकुर सुधारि।' जैसे महाराज दशरथ ने दर्पण में देखा तो उनमें समत्व का उदय हुआ। आत्म-निरीक्षण करने पर उन्हें अपना दोष दिखाई पड़ा और अन्त में समर्पण की प्रेरणा उत्पन्न हुई। इसलिए हमारे जीवन का दर्पण भी इतना स्वच्छ हो जाय कि उसमें हम अपने आपको स्पष्ट रूप से देख सकें, दोषों को देखकर उन्हें दूर करने की चेष्टा करें और हमारे अन्तःकरण में समर्पण की वृत्ति का उदय हो। तभी हम समझेंगे कि रामकथा को हमने सही अर्थों में पढ़ा, सुना और समझा है। यह एक साधक का आत्म-निरीक्षण है, जिसे गोस्वामीजी ने महाराज श्रीदशरथ के दर्पण-दर्शन के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

महाराज श्रीदशरथ के अन्तःकरण में जब समर्पण की वृत्ति का उदय हुआ तब उन्होंने क्या किया? सभा में प्रश्न किया कि आप लोगों की क्या सम्मति है? सभा में उपस्थित लोग भी वैसे ही अच्छे निकले। अगर चापलूस अथवा झूठे प्रशंसक होते तो कह देते – नहीं नहीं, सिंहासन पर आप ही बैठे रहिए। अगर आपने सिंहासन छोड़ा तो दुनिया डूब जायगी, सब कुछ समाप्त हो जायगा। लेकिन उन लोगों ने बड़ी सन्तुलित भाषा में कहा –

बिनती सचिव करहि कर जोरी।
जिअहु जगतपति बरिस करोरी।।२।४।५

यदि कह देते कि आप तुरन्त सिंहासन छोड़ दीजिए, तब तो यही लगता कि ये सब राजा दशरथ के राज्य से ऊब चुके हैं, चाहते हैं कि ये जल्दी से जल्दी सत्ता से हटें। और यदि ऐसा नहीं कहते तो ये राम के प्रति समर्पण के विरोधी सिद्ध होते। इसलिए बड़ी सन्तुलित भाषा में उन्होंने पहला वाक्य तो यह कहा – महाराज, हम तो चाहते हैं कि आप करोड़ों वर्ष तक जीवित रहें और श्रीराम को प्रेरणा देते रहें, उनका मार्गदर्शन करते रहें। आपके मन में जब संकल्प का उदय हुआ है, तो अवश्य ही यह भार अब श्रीराम ऊपर सौंप दें और श्रीराम को ऐसी प्रेरणा दें कि जिसके द्वारा सुन्दर पद्धति से राज्य का संचालन हो। महाराज श्रीदशरथ के आसपास जो लोग हैं, वे उत्तम कोटि के हैं। यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि हमारे आसपास के लोग कैसे हैं? वे हमारे जीवन में त्याग की प्रेरणा देते हैं, या भोग और संग्रह की? दशरथजी के जीवन में अनुकूलता है। उनके समर्पण के संकल्प को समाज का समर्थन मिल गया। तब वे गुरु वशिष्ठ के पास गये। गुरु वशिष्ठ उनके कुल के आचार्य हैं। दशरथजी ने अपना संकल्प उनके चरणों में निवेदित किया और आशिर्वाद माँगा। अन्त में समर्पण का कार्य भी तो गुरु

के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसलिए उन्होंने एकान्त में जाकर गुरुदेव के सामने अपनी भावना व्यक्त की – महाराज, मैंने अपने जीवन में जो भी चाहा, सब आपकी कृपा से पूरा हुआ। अब मेरे मन में एक ही आकांक्षा शेष है। शरीर तो नाशवान है, मृत्यु अवश्यम्भावी है, मैं चाहता हूँ कि मेरे जीवन काल में ही श्रीराम सिंहासन पर बैठ जायँ, मैं उन्हें अयोध्या का राज्य अर्पित कर कर दूँ। मेरा यह संकल्प क्या उचित है?

गुरु वशिष्ठ तो सच्चे अर्थों में गुरु थे। हाँ, इसके विपरीत कुछ ऐसे भी गुरु होते हैं जिनके जीवन में गुरु का अर्थ बिलकुल उलट जाता है। पुराणों में एक गुरु हैं शुक्राचार्यजी। आपने सुना होगा, उनकी एक आँख फूट गई थी? भगवान ने उनकी एक आँख फोड़ दी थी। गुरु की आँख भगवान फोड़ दें, यह तो बड़ी विचित्र बात है – गुरु और भगवान तो दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। फिर इस कथा का तात्पर्य क्या है? इस कथा का एक बड़ा सार्थक तात्पर्य है। बलि यज्ञ कर रहे हैं और उस यज्ञ के अन्त में भगवान आ गये। बलि दान कर रहे हैं और भगवान स्वयं दान लेने आए हैं। यह तो यज्ञ की सफलता और बलि की धन्यता की पराकाष्ठा हो गई। जिसके यज्ञ के समर्पण को स्वीकार करने स्वयं भगवान आ गये उसके यज्ञ की इससे बढ़कर समग्रता और क्या होगी?

यत्करोषि यदश्नसि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥ गीता ९/२७

– "हे अर्जुन, तुम जो कुछ भी करते हो - भोजन, यज्ञ, दान, तपस्या – सब मुझे अर्पित कर दो।" यही तो अन्तिम परिणति होनी चाहिए। लेकिन बलि की समस्या क्या है? भगवान को पहचानना बड़ा कठिन है। वे कब किस रूप में, किस वेश में आ जायँ, कुछ कहा नहीं जा सकता। कभी-कभी तो हम भगवान को न पहचान कर उनका तिरस्कार कर बैठते हैं। भगवान कभी भिखारी के वेश में, कभी दीन-दुखी रोगी के वेश में और कभी न जाने और किस-किस वेश में आ जाते हैं। वे वेश बनाने की कला में बड़े निपुण है। '**जीर्णो दण्डेन वंचसि**'☆– मन्त्र में कहा गया है कि आप कभी कभी लाठी लेकर बूढ़े के रूप में आते हैं और हमें ठग लेते हैं। आपको बूढ़ा समझकर हम आपका तिरस्कार कर बैठते है, जबकि आप साक्षात् भगवान होते हैं। इसलिए तो यह बात कही जाती है कि सर्वत्र सबको भगवान समझना चाहिए – न जाने किस वेश में नारायण मिल जायँ। अभिप्राय यह है कि ईश्वर

☆ अथर्ववेद १०/८/२७ , श्वेताश्वतर उप. ३/४

सर्वव्यापी हैं तो किसी भी रूप में और कभी भी आ सकते हैं, इसलिए किसी का तिरस्कार न करें।

बलि के सामने भी भगवान आए तो किस रूप में आए? शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी, गरूड़ासीन रूप में नहीं आए। आए एक किशोर ब्रह्मचारी के रूप में। बलि नहीं पहचान पाये। उन्होंने उन्हें एक ब्रह्मचारी ही समझकर प्रसन्नतापूर्वक उनका स्वागत किया और पूछा – कहिए मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आप जो आज्ञा देंगे उसका मैं पालन करूँगा। पास ही उनके गुरु शुक्राचार्य बैठे थे। वे बड़े पहुँचे हुए थे। उनके पास पहचान लेनेवाली दृष्टि थी। वे तुरन्त समझ गये कि ये तो भगवान नारायण हैं और बलि की सारी सम्पत्ति हरने के लिए आए हुए हैं। धीरे से उन्होंने अपने शिष्य को संकेत किया – यहाँ से चलो, एकान्त में मैं तुम्हें कुछ बताऊँगा। बलि को एकान्त में ले जाकर गुरु शुक्राचार्य ने कहा – क्या तुम इन्हें पहचानते हो? बलि ने कहा – नहीं महाराज, मैं तो उन्हें ब्रह्मचारी ही समझ रहा हूँ। बोले – नहीं, ये साक्षात विष्णु हैं। बलि गदगद हो गये, बोले – यह तो मेरा परम सौभाग्य है कि यज्ञ मे स्वयं भगवान आ गये। शुक्राचार्यजी ने कहा – प्रसन्न मत होओ। पहले यह जान लो कि वे यहाँ क्यों आए हैं। ये कुछ देने के लिए नहीं, बल्कि तुम्हारा सर्वस्व छीन लेने के लिए आए हैं। – तो?– जाकर कह दो कि हम आपको कुछ नहीं देंगे।

इसमें व्यंग्य यह है कि जब गुरु ईश्वर को पहचान लें और पहचान लेने के बाद शिष्य को समर्पण की प्रेरणा देने के स्थान पर कहें कि उन्हें कुछ मत दो, तो इससे बढ़कर उस दृष्टि का दुरुपयोग और क्या हो सकता है! इतने बड़े ज्ञानी और इतने आसक्त! उन्हें अपने शिष्य की सम्पत्ति के प्रति इतनी आसक्ति और ममत्व है कि आज वे अपने शिष्य के चरमोत्कर्ष में बाधक बन रहे हैं। क्यों? इसलिए कि उन्होंने शिष्य की सुख-सुविधा से अपने आपको जोड़ लिया है। यह मान लिया है कि बलि के पास सम्पत्ति रहेगी, तो वह मेरी सेवा करेगा। और जब इसका सब कुछ छिन जायगा, तब यह मेरी सेवा कैसे करेगा? इसलिए उनको यही चिन्ता है कि उसकी सम्पत्ति बची रहे। भगवान मिलें या न मिलें, इस बात की चिन्ता उन्हें नहीं है। परिणाम क्या हुआ?

यहाँ पर शिष्य गुरु से भी आगे निकल गया। कह दिया – महाराज, मेरी दृष्टि तो इतनी पैनी नहीं है कि मैं भगवान को पहचान पाऊँ, पर आपकी दृष्टि ने उन्हें पहचान लिया और जब आपने बता दिया कि ये स्वयं

भगवान हैं और मेरे द्वार पर भिक्षा के लिए आए हैं, तो इससे बढ़कर सौभाग्य का अवसर मेरे लिए और क्या होगा? आप कहते हैं – ना कह दूँ? नहीं, एक श्रेष्ठ गुरु के रूप में आपने मुझे बता दिया और अब शिष्य को जो करना चाहिए, वह मुझे करने दीजिए। इस पर गुरु को इतना क्रोध आया कि शिष्य को शाप दे दिया – जा, तेरी सारी सम्पत्ति चौपट हो जाय, नष्ट हो जाय। बलि हँसने लगे। बोले – महाराज, जिस कार्य के लिए भगवान आए हुए हैं, आपका यह आशीर्वाद भी उसी का पूरक है। तो चलिए, जाने -अनजाने गुरु और भगवान, दोनों का संकल्प एक हो गया है। यद्यपि शुक्राचार्य के कहने का वैसा उद्देश्य नहीं था। वे तो क्रोध में शाप दे बैठे थे। लेकिन उन्हें शिष्य की सम्पत्ति से इतनी ममता है कि जब लौटकर बलि ने भगवान से कहा – महाराज, संकल्प बोलिए। जब हाथ में कुश लेकर बलि भगवान के सामने पहुँचे, संकल्प पढ़ा जाने लगा और भगवान वामन अपनी कमण्डलु से जल डालने लगे, तब शुक्राचार्य को एक ही उपाय सूझा। वे तुरन्त भगवान की कमण्डलु के छिद्र में जाकर बैठ गये। न जल गिरेगा, न संकल्प पढ़ा जायगा। भगवान को हँसी आ गई। मेरे संकल्प को रोकना चाहता है? सम्पत्ति की आसक्ति में इतना भूल गया? ईश्वर के संकल्प को भला कौन रोक सकता है? भगवान ने जब देखा कि कमण्डलु से जल नहीं गिर रहा है, तो उन्होंने एक कुश उठा लिया और कमण्डलु के छिद्र को साफ करने के लिए उसमें डाल दिया। कुश की नोक बड़ी पैनी होती है। वह पैनी नोक छिद्र में बैठे हुए शुक्राचार्य की आँख में लगी और उनकी एक आँख फूट गई। बेचारे कमण्डलु से निकलकर भागे और जल गिरने लगा भगवान का व्यंग्य यह था कि नेत्र तो दो हैं –

ग्यान बिराग नयन उरगारी। ७/११९/१४

दो नेत्र हैं – ज्ञान और वैराग्य। भगवान ने कहा कि तुम्हारी ज्ञानवाली आँख तो बिलकुल ठीक है, क्योंकि तुमने मुझे पहचान लिया, पर वैराग्यवाली आँख फूटी हुई है, इसलिए शिष्य को दान करने से रोक रहे हो। जब तुम्हारी भीतर की आँख फूटी हुई है, तो लो, बाहर की आँख मैं फोड़े देता हूँ, ताकि लोग देखकर समझ सकें कि कुछ ऐसे भी ज्ञानी होते हैं जो वैराग्यशून्य होते हैं। ऐसे वैराग्यशून्य ज्ञान की कोई सार्थकता नहीं है। मीराबाई ने गोस्वामीजी से पूछा था अगर परिवार के लोग, गुरुजन और पूज्यगण हमें समर्पण से रोकें, तो हमें क्या करना चाहिए? तब गोस्वामीजी ने लिखा – वह बड़ा प्रसिद्ध पद विनयपत्रिका (१७४) में है -

जाके प्रिये न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितन्हि, भये मुद मंगलकारी।।

इस पद में जिन लोगों का नाम लिया गया, उसमें एक नाम बलि का भी है। और यहाँ गोस्वामी ने एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है। कहते हैं –

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।।

अगर कोई पूछ दे कि गुरु तो, 'ज्ञानांजनशलाकया' – दिव्य अंजन के द्वारा नेत्र खोल देते हैं और आप ऐसा कह रहे हैं? तो गोस्वामीजी ने कहा कि बात तो बिलकुल सही है, अंजन की बड़ी महिमा है। आँख में अंजन लगाना चाहिए। पर संयोग से कहीं ऐसा अंजन मिल जाय कि जिससे आँख ही फूट जाय, तो ऐसे अंजन को लगाना चाहिए या छोड़ देना चाहिए? अभिप्राय यह है कि जो हमें दिव्यदृष्टि देकर हमारी समर्पण की वृत्ति को बढ़ाए, उस गुरु की तो सार्थकता है; पर जो गुरु शिष्य के समर्पण को रोकने की चेष्टा करे, वह तो शिष्य को सही दिशा में नहीं ले जा रहा है।

ऐसी स्थिति में महाराज दशरथ का यह महानतम सौभाग्य है कि उन्हें महर्षि वशिष्ठ जैसे गुरु प्राप्त हैं।दशरथजी उनसे पूछते हैं – महाराज, पंचांग देखकर कोई मुहुर्त बताइए। किस दिन हम राम को राज्य दें? तो गुरु इतने उतावले हो गये कि वे दुगुने उत्साह से बोले – पंचांग देखने की, मुहुर्त देखने की क्या आवश्यकता है? – क्यों? बोले – सांसारिक कार्य करना हो तो मुहुर्त देखा जाता है, पर जहाँ पर भगवान का कोई कार्य करना हो, व्यक्ति जब ईश्वर के चरणों में समर्पण का संकल्प करे, तो उसके लिए मुहुर्त देखने की क्या आवश्यकता है? गीतावली में विभीषण के प्रसंग में कहा गया है कि जब रावण ने उनकी छाती पर पादप्रहार किया, तो विभीषणजी सीधे भगवान राम के पास नहीं गये। पहले वे भगवान शंकर के पास गये और कहा – महाराज, अच्छा दिन बताइए। – क्यों? – मैं भगवान राम की शरण में जाना चाहता हूँ। ऐसा शुभ मुहुर्त बताइएं कि जिस दिन जाने से मेरी शरणागति ठीक ठीक सम्पन्न हो। शकरजी ने पहला वाक्य यही कहा – अरे भाई, तुम मुझसे सगुन पूछने आये हो? देखते नहीं, यहाँ तो सारे असगुन ही मेरे साथ रहते हैं। अगर मैं सगुन मानता तो इन सारे असगुनों को क्यों पाल लेता? मैं कोई पंचांग देखकर थोडे ही चलता हूँ। – तब? बोले –

राम की सरन जाहि सुदिनु न हेरै ॥ गी०/सुन्दरकाण्ड/२७

– राम की शरण जाने के लिए सगुन नहीं देखते। यही बात गुरु वशिष्ठ भी कहते हैं –

बेगि बिलंबु न करिय नृप, साजिय सबुइ समाजु।
सुदिन समंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु।। २/४

– देर बिलकुल मत करो, जल्दी करो। क्योंकि रामराज्य के लिए शुभ मुहुर्त की नहीं, शुभ मुहुर्त के लिए रामराज्य की आवश्यकता है। जिस क्षण रामराज्य की स्थापना हो जाय, वही शुभ मुहुर्त है। बस, शुभ और अशुभ की यही कसौटी है।

महाराज दशरथ परम प्रसन्न हैं – दरबार से समर्थन मिला और गुरु से भी समर्थन मिला। उन्होंने आदेश दिया – गुरु वशिष्ठ के आदेश से राज्याभिषेक की तैयारी की जाय।

आनहु सकल सुतीरथ पानी। २/५/१

– सब तीर्थों से जल ले आओ। राज्यभिषेक की सामग्री एकत्र करो। रामराज्य की तैयारी होने लगी। लेकिन यह कितनी विचित्र बात है कि इतनी ऊँचाई पर पहुँचने के बाद, साधना की चरम उपलब्धि के क्षणों मे भी अविद्या साधक को विचलित करने की चेष्टा करती है –

जोग सिद्धिफल समय जिमि जतिहि अविद्या नास।। २/२९

विषयी तो वह है, जो साधना की दिशा में बढ़ा ही नहीं और साधक वह है जो साधना की दिशा में बढ़ रहा है। पर एक साधक वह है जो साधना की चरम उपलब्धि के क्षणों में पहुँच चुका है, पर वहाँ से भी योगभ्रष्ट हो जाने की सम्भावना बनी रहती है।

साधक अगर अन्तिम क्षण में भी विचलित हो गया, तो दीपक बुझ जायगा और वह अपने चरम लक्ष्य को पाने में सफल नहीं होगा। और यही यहाँ पर भी हुआ। रामराज्य नहीं बन पाया। समर्पण का संकल्प पूरा नहीं हो पाया। लेकिन महाराज दशरथ का विकास एक दूसरे रूप में हुआ। वह एक अलग प्रसग है।

उन्होंने इस प्रसग में एक दूसरी प्रेरणा प्राप्त की। इसे यों कहना चाहिए कि एक स्थिति ऐसी है जब समर्पण की प्रेरणा आती है और एक स्थिति ऐसी भी है जब व्यक्ति समर्पण की भावना से भी ऊपर उठ जाता है। देखिए, जब तक संग्रह और उसके प्रति लगाव की वृत्ति है, तब तक तो समर्पण की वृत्ति

का महत्व है, किन्तु समर्पण के चरम क्षणों में एक प्रश्न उठता है। – क्या? श्री यामुनाचार्य ने अपने स्तोत्ररत्न (५३) में यही कहा है। जब वे भगवान के चरणों में समर्पण के लिए पहुँचे, तो ठिठक गये। भगवान ने कहा – करो समर्पण। यामुनाचार्य ने कहा – यही तो सोच रहा हूँ। – क्या? – मैं अपना सब कुछ आपके चरणों में अर्पित कर देने आया था, पर समझ नहीं पा रहा हूँ कि मेरा है क्या ! अब जो वस्तु मेरी नहीं है, उसका समर्पण मैं कैसे कर सकता हूँ? समर्पण तो अपने वस्तु की की जाती है, पर मैं तो खोजने पर भी कोई अपनी वस्तु नहीं पा रहा हूँ। सब तो आपकी ही दिखाई दे रही हैं, तब इस समर्पण में क्या सार्थकता है कि आपकी ही वस्तु आपको अर्पित करूँ।

यही स्थिति श्रीभरत के जीवन में है। जब गुरु वशिष्ठ ने भरतजी के सामने यह प्रस्ताव रखा कि इस समय राज्य को स्वीकार कर लो, चौदह वर्ष तक राज्य चलाओ और जब राम लौट आएँगे तो उन्हें समर्पित कर देना। श्रीभरत कहते हैं – कैसा समर्पण? राज्य मेरा हो तो मैं उन्हें समर्पित कर दूँ, पर राज्य तो श्रीराम का ही है। महाराज दशरथ के जीवन में यह जो विकास है, यह ध्यान रखने योग्य है। कभी कभी साधक के जीवन में जो अवरोध आते हैं, वे भी विकास की किसी-न-किसी प्रक्रिया में सहायक हैं। महाराज दशरथ के जीवन में एक क्षण ऐसा आया कि मानो उनका समर्पण का संकल्प पूरा नहीं हुआ, रामराज्य नहीं बन पाया, पर इससे उनके अन्तःकरण में जिस वृत्ति का उदय हुआ, वह था – **"येन त्यजसि तत्त्यज"** – त्याग करो और जिस वृत्ति से त्याग किया जाता है, उस वृत्ति का भी त्याग कर दो। यही सर्वोत्कृष्ट त्याग है।

महाराज श्रीदशरथ के जीवन में यह जो समर्पण की वृत्ति थी, उसमें दातापन की जो सात्विक वृत्ति थी, अब वह भी मिट गई। उन्होंने देख लिया कि वे चाहकर भी नहीं दे पाये। उनकी राह में यह अवरोध क्यों उत्पन्न हुआ? चारों ओर बाजे बज रहे हैं। राज्याभिषेक की तैयारी चल रही है। पर एक व्यक्ति, केवल एक व्यक्ति – पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है – केवल एक मन्थरा के कारण रामराज्य नहीं बन पाया। और जहाँ पर मन्थरा ही मन्थरा हों वहाँ? हममें से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जितनी बड़ी संख्या में मन्थराएँ हैं, वहाँ यदि हम कल्पना करें कि रामराज्य बन जायगा, तो यह कितनी हास्यास्पद बात है? यह मन्थरा कौन है? गोस्वामीजी ने एक ही वाक्य में कहा – यह भेदबुद्धि ही मन्थरा है। नगर सजाया जा रहा है, बाजे बज रहे हैं। मन्थरा ने लोगों से पूछा – यह सब क्या हो रहा है? लोगों ने

कहा – कल श्रीराम सिंहासन पर बैठेंगे। बस, इतना सुनते ही उसका हृदय जलने लगा। जिस पंक्ति पर अभी चर्चा चल रही है –

पर सुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।। ७/१२०/३४

वही वाक्य गोस्वामीजी यहाँ पर मन्थरा के लिए कहते हैं –

राम तिलकु सुनि भा उर दाहू।। २/१२/२

– राम का तिलक सुनकर उसका हृदय जलने लगा। क्यों जलने लगा? उसके अन्तःकरण में यह जो भेदबुद्धि है कि यह तिलक राम का हो रहा है, भरत का क्यों नहीं? श्रीराम भी दशरथ के पुत्र हैं और श्रीभरत भी। मन्थरा महाराज दशरथ के महल की दासी है। इसमें भला उसे भेद क्यों करना चाहिए? प्रसन्न हो जाती, राम को राज्य मिल रहा है, बड़ी प्रसन्नता की बात है। लेकिन उसके मन में इतनी तीव्र भेदबुद्धि है कि यह राज्य भले ही दशरथ के पुत्र को मिल रहा है, पर उस पुत्र को मिल रहा है जो कौशल्या का पुत्र है, कैकेयी के पुत्र को नहीं मिल रहा है। यह बड़ा अनर्थ हो रहा है। मैं तो इसे रोकने की चेष्टा करूँगी।

एक व्यक्ति के इस ईर्ष्यालु और कुटिल स्वभाव ने रामराज्य नहीं बनने दिया। मार्ग में बाधा उपस्थित कर दी। पर दूसरी ओर इस संकट में भी जो मुस्कुराते रहे, जिनका राज्य छीन लिया गया, सम्पत्ति छीन ली गई, जिन्हें राज्य से निकाल दिया गया, वे श्रीराम मुस्कुरा रहे हैं। बस, यह दो स्वभावों की टकराहट है! एक ओर मन्थरा का स्वभाव और दूसरी ओर श्रीराम का स्वभाव। जब कैकेयी ने बुलाकर श्रीराम से कहा मैंने महाराज श्रीदशरथ से दो वरदान माँगे हैं। एक तो भरत के लिए राज्य और दूसरा तुम्हारे लिए वन। भगवान राम सुनकर प्रसन्न हो गये। कैकेयी उन्हें दुःख देना चाहती हैं, मन्थरा दुःख देना चाहती है। उनका राज्य छीन लिया, उन्हें वन जाना पड़ रहा है। ज्योतिषी लोगों ने तो इसका कारण भी खोज निकाला। उन्होंने कहा कि ज्योतिष शास्त्र में लिखा है, "**दण्डारकविरोधेन रामो राष्ट्रात् निर्वासिता**" – राम की कुण्डली में मंगलग्रह का स्थान खराब हो गया था, इसलिए उन्हें राज्य से निर्वासित होना पड़ा, उन्हें राज्य नहीं मिल पाया। अब ज्योतिषी बेचारे तो मंगल की शान्ति करायेंगे, लेकिन श्रीराम तो प्रसन्न हैं। कैकेयी कहती है – राज्य मेरे बेटे को मिले और श्रीराम कहते हैं –

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। २/४१/१

– भरत तो मेरा प्राण है। इसका अभिप्राय है कि भरत कोई दूसरा थोड़े ही है? जैसे व्यक्ति का प्राण उससे अभिन्न होता है, वैसे ही भरत तो मुझसे अभिन्न है। और यह दर्शन भगवान राम ने अपने बचपन में ही खेल के माध्यम से दिखा दिया था। खेल में जीत होने पर प्रसन्न होने की वृत्ति तो सबमें होती है, पर भगवान राम स्वयं हारकर, भरत को विजयी देखकर प्रसन्न होते हैं। किसी ने पूछ दिया – आप प्रसन्न क्यों हो रहे हैं? बोले – मेरा भाई जीत गया, इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात और क्या होगी? भगवान तो अपने स्व को इतना फैलाए हुए हैं कि सब उनके भीतर हैं, उनमें ही समाये हुए हैं, मानो मनुष्य के भीतर उनका प्राण समाया हुआ है।

कैकेयी ने कहा – राम, तुम्हें यह तो नहीं लग रहा है कि भरत को राज्य और तुम्हें वनवास मिलने से इस बँटवारे में तुम्हें घाटा हुआ है? भगवान राम ने कहा – घाटा कैसा ?

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर।।
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू।। २/४१/१

भगवान राम की कुण्डली में मंगल आदि का दोष नहीं है। वे तो कहते हैं – पता नहीं, आज ब्रह्मा कितने अनुकूल हो गये हैं, जो मुझे इतना बड़ा लाभ हुआ, इतना सुख मिल रहा है। इसका अभिप्राय क्या है? एक ओर काल, कर्म, स्वभाव, गुण ने प्रतिकूलता की सृष्टि की। एक व्यक्ति के स्वभाव ने मलिनता की सृष्टि की, वहीं दूसरी ओर भगवान राम का स्वभाव उस प्रतिकूलता में भी आनन्द की सृष्टि कर रहा है। वे अपने चरित्र के माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि स्वभाव को बदल सकने पर दुःख में भी आनन्द की वृत्ति ढूँढ़ी जा सकती है। इस प्रकार से मानस में गोस्वामीजी ने इस स्वभावजन्य दुःख के स्वरूप को, जिससे व्यक्ति निरर्थक ही दुःखी होता है तथा दूसरों को भी दुःख देता है, मन्थरा के और इसका समाधान भगवान राम के चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है। एक ओर स्व का संकुचन और क्षुद्रता है, तो दूसरी ओर स्व का विस्तार और व्यापकता। यह स्व की संकीर्णता ही हमारे जीवन में रामराज्य की स्थापना नहीं होने देती। भगवान राम का जो सर्वव्यापी स्वरूप है, वही मानो रामराज्य है और वही हमारे इस स्वभावजन्य दुःख का समाधान है। (क्रमशः)

बुद्ध-चरित

स्वामी प्रेमेशानन्द

(श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में अनेक अवतारों पर चर्चा हुई है। इनमें से मत्स्य, कूर्म, वराह आदि के चरित पौराणिक और परशुराम, बुद्ध आदि के व्यक्तित्व ऐतिहासिक हैं, जिनके जीवन से हमें हिन्दू समाज के उत्थान-पतन विषयक स्पष्ट संकेत भी मिलते हैं। तथापि इन महान कथाओं के अनुशीलन से प्राप्त होनेवाली शिक्षाएँ तथा आनन्द, इनकी ऐतिहसिकता पर निर्भर नहीं करतीं। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमेशानन्दजी ने अपनी सुललित बँगला भाषा में इन्हें पुनः लिखा था, उसी 'दशावतार-चरित' नामक पुस्तक से हम इनका अनुवाद क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। - सं.)

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदय-हृदय-दर्शित-पशुघातम्।
केशव धृत बुद्धशरीर
जय जगदीश हरे॥

– १ –

श्रीराम तथा श्रीकृष्ण के जीवन द्वारा प्रदर्शित आदर्शों पर चलकर भारत की खूब उन्नति हुई थी। लोगों ने समझ लिया था कि ईश्वरप्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है, उसी में सुख-शान्ति है। इसीलिए वे लोग जीवन के सभी कर्म भगवान की प्राप्ति के लिए किया करते थे। इस प्रकार देश से पाप चला गया और सर्वत्र शान्ति की स्थापना हुई।

शान्ति के माहौल में लोग क्रमशः आराम-पसन्द होने लगे। ईश्वर और धर्म केवल बातों में रह गए; मान-ऐश्वर्य तथा सांसारिक सुख ही जीवन का सार है, यही भाव प्रबल होने लगा। धर्म-कर्म गौरव की वस्तु हो गयी, लोग भूल गए कि इसका उद्देश्य शान्ति है। अपने अपने वर्ण का गौरव बढ़ाने के लिए ही लोग धर्म का आचरण करने लगे।

राजा-महाराजा अत्यन्त व्ययसाध्य याग-यज्ञ किया करते थे, परन्तु उसका उद्देश्य मान-यश हो गया। योगी तथा ब्राह्मण अत्यन्त कष्टसाध्य तपस्या करते हुए देहपात कर देते; परन्तु इस सबका एकमात्र उद्देश्य रह गया सम्मान, पूजाप्राप्ति तथा शिष्य बनाना। जाति का गौरव तथा सांसारिक उन्नति को ही लेकर मानव भटक गया। देश से भगवान चले गए और धर्म

का स्थान लोकाचार ने ग्रहण कर लिया। मनुष्य के प्राणों में सुख-शान्ति नहीं रहा। जीवन भगवद्भक्ति-विहीन श्मशान में परिणत हुआ और उसमें धू-धूकर वासना की आग जलने लगी।

– २ –

कपिलवस्तु नगरी में शुद्धोदन नाम के एक राजा थे। काफी आयु में उनके एक सन्तान हुई। ज्योतिषियों ने गणना करके बताया, "यह बालक संसार में रहे तो चक्रवर्ती राजा बनेगा और संन्यासी हो तो जगद्गुरु होगा।" उसका नाम सिद्धार्थ रखा गया। खूब सुन्दर, बुद्धिमान तथा धीर-स्थिर होने के कारण सबका उसके प्रति स्नेह था, बालसुलभ चपलता का उनमें अभाव था, यहाँ तक कि खेलकूद भी उसे पसन्द न था। आयु के साथ साथ उसकी गम्भीरता में भी वृद्धि होने लगी। राजा शुद्धोदन सर्वदा शंकित रहते कि बालक कहीं संन्यासी न हो जाय। इसीलिए वे सिद्धार्थ को सदा प्रफुल्ल रखने का प्रयास करते।

बाल्यकाल से ही उसके हृदय में सर्व जीवों के प्रति समान रूप से दयाभाव दीख पड़ता। एक दिन देवदत्त नामक शाक्य बालक ने एक जंगली हंस पर तीर चलाया। आकाश में तीर से घायल होकर हंस सिद्धार्थ के निकट आ गिरा। सिद्धार्थ ने हंस को गोद में उठा लिया और तीर निकालकर उसे स्वस्थ कर दिया। देवदत्त अपना शिकार लेने को दौड़ता हुआ आया, परन्तु सिद्धार्थ किसी भी हालत में हंस देने को राजी नहीं हुआ। इसी बात को लेकर दोनों के बीच विवाद छिड़ गया। निपटारे के लिए वृद्धों के पास जाने पर उन लोगों ने कहा, "जो प्राणी को प्राणरक्षा करता है, उसी का उस प्राणी पर अधिकार होता है।"

कपिलवस्तु नगर में एक कृषि-महोत्सव हुआ करता था। उस अवसर पर राजा, मंत्री आदि सभी खेतों में हल चलाते थे। इससे मिट्टी के भीतर से बहुत सारे कीट-पतंगे बाहर निकल आते थे। उनमें से कुछ लोगों के पाँव-तले आकर मर जाते और बाकी को पक्षी पकड़कर खा जाते। जीवों के इस भयानक कष्ट को सह पाने में असमर्थ होकर सिद्धार्थ ने अपने पिता से यह प्रथा बन्द कर देने का अनुनय-विनय किया।

गोपा नाम की एक रूपगुणवती कन्या के साथ सिद्धार्थ का विवाह हुआ। उनके वैराग्यग्रसित मन को आमोद-प्रमोद में मग्न रखने के लिए राजा ने

एक प्रमोद- उद्यान का निर्माण कराया, जिसमें प्रतिदिन नृत्य-गीत के आयोजन हुआ करते थे। सिद्धार्थ उनमें सम्मिलित होते, परन्तु अन्य लोगों के समान रस नहीं ले पाते।

– ३ –

मनुष्य के दुःखों का कोई अन्त नहीं; एक को दूर करने पर दूसरा दुःख स्वतः ही आकर प्रकट हो जाता है। जीवन में दुःख को देखते ही सिद्धार्थ का मन द्रवीभूत हो जाता और उन्हें इच्छा होती कि प्राण देकर भी यदि हो सके तो उस दुःख का मोचन किया जाय। एक दिन नगर-भ्रमण को निकलने पर उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति रोग की पीड़ा से बड़ा कष्ट पा रहा है। इसके साथ ही उनके चिन्तनशील मन में हलचल मच गई और भ्रमण वहीं स्थगित कर देना पड़ा।

एक अन्य दिन एक वृद्ध की दुर्दशा ने उनका ध्यान आकृष्ट किया। मानव शरीर के इस सुनिश्चित परिणाम के विषय में सोचकर वे अधीर हो गए। किसी दूसरे दिन एक अन्य दृश्य ने उन्हें और चंचल कर डाला। उन्होंने देखा कि एक मृत व्यक्ति को दाह करने हेतु श्मशान में लाया गया है और उसके स्त्री-पुत्र व्याकुल होकर रो रहे हैं। इस दृश्य ने सिद्धार्थ के मन में प्रबल वैराग्य का संचार किया। अहा! ऐसे अनित्य दुःखमय जीवन को लेकर हम लोग भूले हुए हैं! इस व्याधि-जरा-मृत्यु से उद्धार का क्या कोई भी उपाय नहीं? यदि न हो, तो फिर इस जीवन का मूल्य ही क्या है? सोचते सोचते सिद्धार्थ इस विचार का कोई भी ओर-छोर न पा सके।

एक दिन एक शान्तमूर्ति संन्यासी का निर्विकार भाव देखकर उनके मन में एक नवीन विचार का उदय हुआ। उन्होंने सोचा – मैं भी इसी प्रकार संन्यासी होकर तपस्या करके देखूँगा कि जरा-व्याधि-मृत्यु से छुटकारा पाने का कोई उपाय है अथवा नहीं। उन्होंने पिता के समक्ष अपनी इच्छा व्यक्त की। राजा यह बात सुनकर बड़े ही विचलित हुए, किसी भी युक्ति पर उन्होंने पुत्र के संन्यास का अनुमोदन नहीं किया; बल्कि कहीं सिद्धार्थ बिना बताए ही पलायन न कर जायँ, इसलिए उन्होंने कड़े पहरे की भी व्यवस्था कर दी।

उन्हीं दिनों गोपा के एक पुत्र हुआ। सिद्धार्थ ने देखा कि वे क्रमश; संसार में उलझते जा रहे हैं; अतएव अब देरी करना उचित नहीं – यह सोचकर एक दिन उन्होंने आधी रात के समय राज्य छोड़कर प्रस्थान किया।

– ४–

सिद्धार्थ त्यागी के वेश में तपस्वियों के पास जाकर योग कि शिक्षा ग्रहण करने लगे। उन दिनों लोग भाँति भाँति की कठोर तपस्या करते थे और थोड़ी-सी कुछ अनुभूति होते ही अपने को सिद्ध समझकर उसका प्रचार करने लगते थे। सिद्धार्थ ने इसी श्रेणी के अनेक योगियों का शिष्यत्वं स्वीकार कर उनके धर्ममतों में सिद्धि प्राप्त की। परन्तु उन्होंने देखा कि ये अनुभूतियाँ मनुष्य को जरा-मरण के हाथ से बचा नहीं सकतीं। इस पर उनके मन की अशान्ति और बढ़ गयी।

विभिन्न स्थानों पर घूमते घूमते क्लान्त एवं निराश होकर सिद्धार्थ ने निश्चय किया कि वे स्वयं ही ध्यान-तपस्या आदि करके जरा-मरण के निवारण का उपाय ढूँढ़ निकालने का प्रयास करेंगे। अतः वे गया के निकट निरंजना नदी के तट पर स्थित उरुबिल्व ग्राम के एक मनोहर स्थान पर योगासन में बैठकर ध्यान में डूब गए। पाँच अन्य साधक भी उनकी तपस्या एवं तेजस्विता पर मुग्ध होकर उनके शिष्य बन गए और सिद्धार्थ की सेवा में लग गए।

सिद्धार्थ आहार-निद्रा को त्यागकर दिन-रात एकासन में बैठे ध्यान करने लगे। उपवास के कारण उनका शरीर इतना दुर्बल हो गया कि एक दिन स्नान करके नदी के तट पर चढ़ते समय वे मूर्च्छित हो गए। शिष्यों ने सोचा कि उनकी मृत्यु हो गई है। मूर्च्छा टूटने पर उन्होंने सोचा कि इस प्रकार कठोरता के द्वारा शरीर बरबाद करने से सिद्धिलाभ सम्भव नहीं। इसीलिए वे पुनः आहार ग्रहण करने लगे। उन दिनों लोगों की धारणा थी कि अन्न-पान में कठोरता बरतना ही साधना है। सिद्धार्थ के उस कठोरता का त्याग कर देने पर शिष्यों ने सोचा कि उनका पतन हो गया है, अतः वे उन्हें छोड़कर चले गये।

सिद्धार्थ का शरीर स्वस्थ एवं सबल हुआ। फिर ध्यान करते करते उनका मन निर्वाण-सागर में मिल गया और उन्हें बुद्धत्व का प्राप्ति हुई। आनन्द और शान्ति से उनका हृदय परिपूर्ण हो उठा।

सिद्धार्थ बाल्यकाल से ही जीवों के दुःख से कातर थे। बुद्धत्व की उपलब्धि के साथ ही वे दुःखमोचन का उपाय जान गए, परन्तु मुक्ति अथवा निर्वाण की बातें किसे सुनाते? सामान्य जन तो ये बातें समझ नहीं सकते थे।

उन्हीं पाँच शिष्यों की बात उन्हें याद हो आई। खोजते खोजते वे उन्हें काशी के निकट सारनाथ में मिले। उनके उपदेशों से निर्वाण प्राप्तकर शिष्यगण कृतार्थ हो गए। फूल खिलने पर भ्रमरों का अभाव नहीं रहता। सैंकड़ों लोग उनसे धर्म की शिक्षा पाने को आ जुटने लगे। अनेक लोग सर्वस्व त्यागकर संन्यासी होने लगे।

शुद्धोदन अपन पुत्र के गौरव की बातें सुनकर अतीव आनन्दित हुए। उन्होंने बुद्धदेव को कपिलवस्तु ले आने के लिए आदमी भेजा। बुद्धदेव का आगमन होने पर नगर के लोग उन्हें देखने को दौड़े आए। शुद्धोदन, गोपा आदि सबने निर्वाण धर्म का उपदेश पाकर सुख-दुख से मुक्तिलाभ किया। शाक्यवंश के अनेक बालकों तथा युवकों ने संन्यास लेकर बुद्धदेव का अनुसरण किया; यहाँ तक कि बुद्धदेव का पुत्र राहुल भी संन्यासी हुआ।

बुद्धदेव उत्तरी भारत में सर्वत्र निर्वाण धर्म का उपदेश देते हुए भ्रमण करने लगे। जो साधकगण कठोर तपस्या के उपरान्त भी अभीष्ट नहीं प्राप्त कर पा रहे थे, बुद्धदेव की कृपा से उन लोगों ने भी सिद्धिलाभ किया। सहस्रों लोग, जो संसार की ज्वाला में भुनकर मर रहे थे, उन्हें भी बुद्धदेव के उपदेशों से शान्ति मिली। घृणित-पतित के रूप में जिन्हें समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था, बुद्धदेव ने शिष्य बनाकर उनका भी उद्धार किया। भारत में पुनः धर्मभाव जाग उठा, लोगों के मन में शान्ति का संचार हुआ।

अस्सी वर्ष की आयु में बुद्धदेव ने महानिर्वाण प्राप्त किया।

(अगले अंक में 'कल्कि-चरित')

हृदय की महत्ता

मस्तिष्क एवं हृदय - दोनों की हमें आवश्यकता है। अवश्य हृदय बहुत श्रेष्ठ है - हृदय के माध्यम से जीवन की महान अन्त:प्रेरणाएँ आती हैं। मस्तिष्कवान, पर हृदयशून्य होने की अपेक्षा मैं तो यह सौ बार पसन्द करूँगा कि मेरे जरा भी मस्तिष्क न हो, पर थोड़ा सा हृदय हो। जिसके हृदय है, उसी का जीवन सम्भव है, उसी की उन्नति सम्भव है; किन्तु जिसके तनिक भी हृदय नहीं, केवल मस्तिष्क है, वह सूखकर मर जाता है।

– स्वामी विवेकानन्द

जीवनयात्रा - थोड़ा यूँ भी तो देखें (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

मार्ग तथा वाहन

यात्रा और उसके गन्तव्य पर हमने थोड़ा विचार किया। आइए अब मार्ग तथा वाहन पर भी थोड़ा विचार कर लें। पहले वाहन पर ही विचार करें। आज से हजारों साल पहिले किसी एक पहुँचे हुए यात्री ने कहा – **'शरीरम् आद्यम् खलुधर्म साधनम्'** शरीर ही सभी धर्मों की साधना का साधन है। यहाँ शरीर से तात्पर्य मानव व्यक्तित्व से है। शरीर, मन, बुद्धि अहंकार आदि सभी कुछ। मानव व्यक्तित्व ही वह वाहन है जिसके द्वारा हमें यात्रा करनी है। गंतव्य पर पहुँचना है।

मुख्य रूप से मन और बुद्धि ही हमारे वाहन हैं। शरीर तो उस वाहन का बाहरी अवरण मात्र है। इस वाहन की ठीक ठीक जानकारी के बिना जीवन यात्रा के चरम गंतव्य पर पहुँचना तो दूर की बात है। साधारण संसार की जीवन यात्रा भी ठीक नहीं चल सकती। व्यक्ति संसार के सुखों का भोग भी ठीक ठीक नहीं कर सकता। अपने आपसे, अपने अस्तित्व से हम जितने अधिक परिचित होंगे हमारा जीवन उतना ही अधिक व्यवस्थित और तनावमुक्त होगा। सुखी होगा और इस प्रकार हम अपने गंतव्य पर पहुँचने के अधिक योग्य यात्री बन सकेंगे।

जड़वादी दार्शनिकों तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में मानव व्यक्तित्व जड़ पदार्थों का संघात मात्र है। मनुष्य एक भौतिक वस्तु मात्र है। उनमें चेतना या चैतन्य आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार का दृष्टिकोण रखने वालों के लिए यही जन्म प्रथम और अंतिम है। उनकी जीवन यात्रा का गंतव्य मृत्यु है। अतः उनके जीवन का लक्ष्य है इस देह में रहते जितना विषय सुख मिले भोग लो मरने के बाद सब कुछ समाप्त। इन व्यक्तियों के लिये हमारी चर्चा अप्रासंगिक और व्यर्थ है।

अध्यात्म और धर्म की दृष्टि में मानव व्यक्तित्व

हमारे ऋषियों ने मानव व्यक्तित्व का गहन परीक्षण और विश्लेषण किया था। वे मानव व्यक्तित्व के अंतरतम प्रदेश तक पहुँचे थे। तथा अपने स्वयं के अनुभव द्वारा उन्होंने मानव व्यक्तित्व के सच्चे स्वरूप को जाना था।

उनके अनुभव ने उन्हें बताया कि मनुष्य मूलरूप में चैतन्य आत्मा है। वह अजर, अमर, अविनाशी आनंदमय तत्व है। इस चैतन्य तत्व के कारण ही उसका शरीर और मन प्राणवान है। अतः यात्री को यह ध्यान रखना होगा कि शरीर ही जीवन यात्रा के वाहन का सर्वस्व नहीं है। वह वाहन का एक भाग है। प्रायः यह बात यात्री स्मरण नहीं रखता और यह भूल कर बैठता है कि केवल शरीर को ही वह समूचा वाहन समझ बैठता है तथा वाहन के अन्य महत्वपूर्ण भागों की उपेक्षा कर शरीर की सेवा और पोषण में ही अपनी शक्ति और समय लगा देता है। इस प्रकार जब शरीर को ही पहिला स्थान मिल जाता है तो मन और बुद्धि शरीर के आधीन हो जाते हैं और जिस व्यक्ति के मन और बुद्धि शरीर के आधीन हो जाते हैं। उसका जीवन शरीर के धरातल पर रुक जाता है और वह एक शरीर से दूसरे शरीर में भटकता हुआ गंतव्य से बहुत दूर हो जाता है।

आज से कोई १० या १२ सौ साल पहिले हमारे देश के एक युवक आचार्य ने जो इसी देह में रहकर गंतव्य पर पहुँच चुके थे। जो जीवनमुक्त थे। उन्होंने चेतावनी दी थी और कहा था जो व्यक्ति शरीर पोषणार्थी होकर अर्थात शरीर की सेवा सुश्रुषा को प्रधान मानकर उसी में लगा रहता है और साथ साथ आत्मा के भी दर्शन करना चाहता है। जीवन यात्रा के परम गंतव्य पर पहुँचना चाहता है वह उस मूर्ख के समान है जिसने मगर को एक लकड़ी का लट्ठा समझकर पकड़ रखा है और उसके सहारे नदी पार करना चाहता है।[१०] आचार्य शंकर की यह बात आज भी उतनी ही सत्य है जितनी कि हजार साल पहिले थी।

दिन रात शरीर के मांगों की ही पूर्ति करते रहें। शरीर के सुख भोगों में ही लगे रहें और जीवन यात्रा के गंतव्य पर भी पहुँच जाएँ ऐसा नहीं हो सकता। कभी नहीं हुआ कभी नहीं होगा।

अतः सावधान रहना होगा कि वाहन की सज्जा, उसका रूप रंग ही हमें मोहित न कर ले, लुभा न ले। यदि ऐसा हुआ तो हमारी यात्रा कि दिशा ही उल्टी हो जायेगी। हम गंतव्य से बहुत पीछे हट जायेंगे। हमारी

---

१०. शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारु धिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति॥८६॥ वि चू.म.

यात्रा और अधिक लंबी और कष्टप्रद हो जायेगी। अतः जितना आवश्यक है शरीर की उतनी ही सेवा करनी चाहिये।

जिस कुमार ने सीधे मृत्यु के देवता यमराज से ही प्रश्न पूछा था उस नचिकेता को उसके प्रश्नों का उत्तर देते हुए यमराज ने मानव व्यक्तित्व का बड़ा ही सुंदर चित्रण किया है। वैदिक युग की बात है अतः उसी युग के यान वाहन के उदाहरण दिये गये है। यमराज ने बताया कि शरीर मानो एक रथ है। इस रथ पर बैठने वाला रथी आत्मा है। इस रथ को हाँकने वाला सारथी बुद्धि है। इन्द्रियाँ घोड़े हैं। मन लगाम है इन्द्रियों के विषय वे रास्ते हैं जिन पर ये थोड़े चलते हैं।[११] आत्मा इन्द्रिय और मन को मिलाकर ही यह मानव व्यक्तित्व बना है। यही जीवात्मा भोक्ता है। भोक्ता है इसलिये कर्ता भी है। कर्ता भोक्ता होने के कारण ही हमारा अलग अलग अस्तित्व है, व्यक्तित्व है। इस व्यक्तित्व के कारण ही हम यात्री हैं। जिसका व्यक्तित्व विलीन हो चुका है वह कर्ता भोक्ता नहीं है इसलिये वह यात्री भी नहीं है। वह तो साक्षीमात्र है। वह गंतव्य पर पहुँच चुका है। उसकी यात्रा समाप्त हो चुकी है। वह पहुँचा हुआ महापुरुष है।

जीन-यात्रा का यही हमारा वाहन है। आइये इस वाहन को ठीक से देख लें। उसे समझ लें। क्योंकि उसी के द्वारा तो हमें यात्रा करनी है। गंतव्य पर पहुँचना है।

वैसे वाहन का प्रत्येक भाग महत्त्वपूर्ण है, किन्तु सारथी का अपना एक विशेष स्थान है। उसका विशेष महत्त्व है। यह सारथी है बुद्धि। सारथी पर ही हमारी जीवन यात्रा का दारोमदार है। रथ चाहे जितना अच्छा क्यों न हो यदि सारथी अच्छा नहीं है तो वह हमें उल्टी ही दिशा में ले जायेगा। गड्ढे में गिरा देगा। अतः हमें अपने वाहन के सारथी के संबंध में विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है। सारथी को ठीक रखा तो काम ठीक हो जायेगा। सारथी हमे गंतव्य तक पहुँचा देगा। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में

---

११. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगहमेव च॥ ३॥ १-३ कठ
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥४ ॥ १-३ कठ

अर्जुन को आदेश ही दे दिया 'बुद्धौ शरणं अन्विच्छ' अर्जुन तू बुद्धि की शरण में जा। भगवान भक्तों पर प्रसन्न होकर कृपा करने के लिए सबसे बड़ा वरदान क्या देते हैं? 'ददामि बुद्धियोगम्' मैं बुद्धियोग देता हूँ। (गीता १०/१०) अर्थात सद्बुद्धि देता हूँ। सद्बुद्धि यही मनुष्य का सबसे बड़ा संबल है। **'बुद्धि योगम् उपाश्रित्यं'** (५७/१८ गी.) बुद्धियोग का आश्रय लेकर जीवन यात्रा प्रारंभ करें।

जीवन यात्रा को सफल करने के लिये हमें सबसे पहिले हमारे सारथी इस बुद्धि को ठीक करना होगा। उसे शुद्ध और पवित्र रखना होगा। उसे ठीक रखने के लिये, शुद्ध रखने के लिये यह जानना आवश्यक है कि वह बिगड़ती कैसे है! अशुद्ध कैसे होती है? बुद्धि बिगड़ती है मोह से। हम सबने मोहांध शब्द सुना है। मोह इस बुद्धि को अंधा कर देता है। अब समझ लीजिये कि जिसके रथ का सारथी ही अंधा हो उस रथ और रथी का क्या होगा। वह रथ अगर गड्ढे में न गिरे तो और कहाँ जायेगा?

मोह की वीच कामना या वासना में होता है। वासना ड्रग के समान है। पहिले पहल तो अच्छा लगता है। 'किक' देता है। उछाल देता है। किन्तु शीघ्र ही वह ड्रग लेने वाले को एडिक्ट बनाकर, ड्रग का आदी बनाकर, उसका सर्वनाश कर देता है। अतः यात्री को सावधानी पूर्वक सारथी पर नजर रखनी पड़ेगी कि उसका सारथी कहीं वासना का ड्रग तो नहीं ले रहा है।

बुद्धि का ड्रग लेना क्या है? बुद्धि जब वासना को सह देने लगे, उसे उचित ठहराने लगे, उसका अनुमोदन करने लगे, उससे सहयोग करने लगे तब समझ लेना चाहिये कि बुद्धि ड्रग ले रही है और अब उसे एडिक्ट होने में देर नहीं लगेगी।

इस लक्षण के दिखते ही, उसका पता लगते ही, हमें तुरंत एन्टीडोट, ड्रग डि एडिक्शन – वासना विष के निवारण की औषधि तत्काल लेना प्रारंभ कर देना चाहिये। और यह औषधि क्या है। यह महा औषधि है सत्संग, सद्ग्रन्थ और सत्कर्म।

सत्संग से ही बुद्धि शुद्ध होती है। उसकी सभी विकृतियाँ दूर हो जाती हैं। सत्संग का अंजन बुद्धि की आँखों को साफ कर देता है। आँखें साफ

होते ही बुद्धि अच्छा और बुरा, सत्य और असत्य को साफ-साफ देखने लगती है। इसका नाम विवेक है। यह विवेक बुद्धि ही तो जीवन रथ का सच्चा सारथी है। विवेक जागृत रहे तो जीवन रथ कभी भी कुपथ पर नहीं जा सकता। इसलिये सारथी को ठीक रखना होगा।

इस रथ के घोड़े हैं हमारी इन्द्रियाँ। रथ ठीक चलने के लिये घोड़ों को स्वस्थ, सबल और नियंत्रित होना चाहिये। घोड़े स्वस्थ और सबल तो हों किन्तु यदि वे नियंत्रित न हों तो भी रथ हमें गंतव्य पर नहीं पहुँचा कर उल्टी ही दिशा में ले जायेगा।

इन घोड़ों के विचरने या चलने के रास्ते हैं, 'विषय भोग'। जिह्वा अच्छे स्वाद लेना चाहती है। चटोरी होना चाहती है। आँखें रूप के पीछे पागल रहती हैं! कान मधुर संगीत तथा मन को प्रिय लगने वाली बातें सुनना चाहती हैं। नाक सुगंध लेना चाहती है। और त्वचा उसका तो कहना ही क्या है। स्पर्श सुख के पीछे मनुष्य पागल है। ये विषय वस्तु ही इन्द्रियों के गोचर हैं। इन्हीं रास्तों पर इन्द्रियाँ चलती हैं। थोड़ी भी असावधानी हुई कि ये अटका कर रथी को गड्ढे में गिरा देती हैं। इन भटकी हुई इन्द्रियों को रास्ते पर लाना, वश में करना बड़ा ही कठिन काम होता है।

घोड़े और उसके चलने के रास्ते पर हममें थोड़ा विचार किया। आइये अब देखें कि घोड़ों की लगाम क्या है? यमराज ने नचिकेता को बताया कि मन ही इन इन्द्रियरूपी घोड़ों की लगाम है, जिसके द्वारा इन घोड़ों को नियंत्रित किया जा सकता है। यह लगाम भी मजबूत होनी चाहिये। लगाम यदि मजबूत न रही या ढीली रही तो घोड़े नियंत्रित न हो पायेंगे। उल्टे वे लगाम को ही अपनी तरफ खींच लेंगे या उसे तोड़ ही देंगे।

आगे यमराज ने दुष्ट घोड़ों का उदाहरण देकर नचिकेता को बताया कि जो व्यक्ति विवेक-बुद्धिहीन होता है और जिसका मन चंचल होता है, मन उसके वश में नहीं होता उसकी इन्द्रियाँ उन दुष्ट घोड़ों के समान होती हैं जो सारथी के वश में नहीं होते।

किन्तु जो व्यक्ति विवेक बुद्धि युक्त होता है। जिसका मन उसके वश में होता है उसकी इन्द्रियाँ एक सधे हुए सारथी के घोड़ों के समान उसके वश में होती हैं।

इसका परिणाम क्या होता है? जो विवेक- बुद्धिहीन असंयत चित्त होता है वह जीवन यात्रा के चरम गंतव्य पर नहीं पहुँच पाता। उल्टे वह जन्म मरण के चक्र में फँसकर निरंतर घूमता रहता है।

किन्तु जो विवेक बुद्धि युक्त तथा संयतचित्त होता है वह उस गंतव्य पर पहुँच जाता है जहाँ से फिर वापस नहीं लौटना पड़ता।

जीवन और मृत्यु के रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए यमराज नचिकेता को अन्तिम उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे नचिकेता जिस व्यक्ति के जीवन रथ का सारथी विज्ञानवान अर्थात विवेक-बुद्धियुक्त होता है तथा जिसका मन रूपी लगाम उसके वश में होता है। वह संसार मार्ग के पास पहुँच जाता है। वही विष्णु पद है। वही तो हमारी जीवन यात्रा का परम गंतव्य है। (कठोपनिषद अ०१ वल्ली ३ के ३ से ९ मंत्र)

वाहन की यांत्रिक व्यवस्था

हमारी जीवन यात्रा का एकमात्र वाहन हमारे व्यक्तित्व पर हमने एक सरसरी नजर डाली। अब उस वाहन की यांत्रिक व्यवस्था पर भी थोड़ा ध्यान दे। यह इसलिये आवश्यक है कि हमारे वाहन की यांत्रिक व्यवस्था को देखने, समझने के क्रम में हम फिर एक बड़ी भूलकर बैठे। हमारे वाहन के बाहरी भाग की जाँच और परीक्षा में हम इतने उलझ गये कि भीतरी भागों की ओर हमारा मन ही नहीं गया। यदि कभी गया भी केवल उतना ही जितना कि बाहर के भाग को समझने के लिये आवश्यक था।

वह भाग जिसमें हम उलझ गये हैं वह है हमार शरीर। शरीर को ही सर्वस्व मानकर उसके विषय में अधिक से अधिक जानकारी हासिल की। दुनियाँ भर के डाक्टरों ने वैज्ञानिकों ने हजारों परीक्षण, निरीक्षण और प्रयोग करके शरीर के तार तार को जान लिया। अभी भी जानने में लगे हैं। उनकी सारी चेतना, सारी बुद्धि देह में ही लगी है। देह के परे भी कुछ है इस ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

अरे भाई यह ठीक है कि जीवन यात्रा के वाहन का एक महत्वपूर्ण भाग शरीर है। किन्तु मित्र, जिसका यह शरीर है उसके विषय में भी जानना होगा और अच्छी तरह जानना होगा। शरीर यंत्र की रचना अस्थियों का ढाँचा, मांसपेशियों की कार्यप्रणाली, रोग निदान और चिकित्सा

पद्धति इतना ही मानव व्यक्तित्व का सर्वस्व नहीं है। उसके बाद भी मानव व्यक्तित्व का बहुत बड़ा भाग है। इसके वाहन के बहुत भाग जो डाक्टर की प्रयोगशाला में, रासायनिक की प्रयोगशाला में, भौतिक विज्ञानी की प्रयोगशाला में परखे नहीं जा सकते। नहीं जाने जा सकते। वे भाग इन प्रयोगशालाओं की सीमा के बाहर हैं। उनका विज्ञान दूसरा है। उनके प्रयोग और परीक्षण की विधियाँ दूसरी हैं। हमारे पुरखों ने हजारों साल पहिले मानव व्यक्तित्व के उन भागों को जानने समझने और परखने की कोशिश की और वे लोग उसमें पूरे पूरे सफल हुए। हजारों लोगों ने हजारों बार प्रयोग कर एक ही फल पाया और वह फल यह था कि मनुष्य शरीर नहीं है इस शरीर के भीतर जो असल मनुष्य है वह अजर अमर है। शरीर के मरने पर भी वह नहीं मरता। वह सब प्रकार के दोष और दुखों से रहित आनंद स्वरूप है। उसी का नाम आत्मा है। उसे जानकर, उसका अनुभव करके मनुष्य जीवन यात्रा के परम गंतव्य पर पहुँचकर जनम मरण के चक्र से छूट सकता है। इससे भिन्न दूसरा और कोई उपाय नहीं है। यही परम सत्य है।

तो मित्रो, जीवन यात्रा की सफलता के लिये हमें मानव व्यक्तित्व के इन अज्ञात, अभौतिक भागों को भी ठीक ठीक जानना होगा। उनके क्रिया कलापों और नियमों से भलीभाँति परिचित होना होगा तभी यात्रा सफल होगी।

अर्जुन जैसे सजग सावधान यात्री की भी यही समस्या थी। साक्षात् नारायण ने ही उसे इस वाहन के सूक्ष्म और अज्ञात भागों की जानकारी दी। भगवान ने उससे कहा अर्जुन सुन – स्थूल शरीर से परे और सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों से परे मन है जो इन्द्रियों से सूक्ष्म है। मन से परे बुद्धि है जो मन से भी श्रेष्ठ है। इस बुद्धि से भी परे वह चैतन्य आत्मा है।[१२] वह सूक्ष्मतम है। श्रेष्ठतम है। उससे श्रेष्ठ उससे महान और कुछ नहीं हैं। यही मानव व्यक्तित्व का असल और सच्चा स्वरूप है।

तो देखिये हमारे वाहन के दूसरे अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है इन्द्रिय, मन,

---

१२ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥४२॥३ गीता

और बुद्धि। वाहन के इस महत्वपूर्ण भागों को ठीक ठीक जान और समझ लेना होगा। क्योंकि ये सब वाहन के भीतरी कल पुर्जे हैं। ये सब ठीक रहे तो वाहन का बाहरी भाग भी ठीक रहेगा।

आइये संक्षेप में इन भीतरी पुर्जों को भी थोड़ा जान लिया जा। इन्हें जान लेने पर इनके रख रखाव, साज सम्हाल आदि में सुविधा हो जायेगी।

इन्द्रियाँ : इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं। एक बाहर दिखनेवाली नाक, कान, हाथ-पैर आदि। इन बाहर दिखने वाली इन्द्रियों की सुनने, देखने, कार्य करने आदि की जो शक्तियाँ है वे बाह्य नहीं हैं। इन सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं। उन्हें हम देख नहीं पाते। ये केन्द्र यदि रोग, चोट आदि के कारण क्षतिग्रस्त हो जाएँ तो आँख कान आदि ठीक रहते हुए भी हम देख सुन नहीं पायेंगे।

मन : इन्द्रियों से सूक्ष्म मन है। हम सब अपने अनुभव से यह जान सकते हैं। आप अपने घर के कमरे में बैठ कर कोई रुचिकर पुस्तक पढ़ रहे हैं। आपका मन उस पुस्तक में डूब गया है। आपके कमरे में एक बड़ी दिवाल घड़ी लगी है। वह टिक-टिक करती चल रही है। समय होने पर वह ७,८ आदि घंटे भी बजाती है। किन्तु आप सुन नहीं पाते। अधिक समय होता देख जब घर का कोई व्यक्ति आपसे कहता है – आज आपको काम पर नहीं जाना है? १० बज गये – तब आप अचानक कह उठते हैं कि अरे! १० बजे गये मुझे पता नहीं चला। मैंने घंटा ही नहीं सुना।

ऐसा क्यों हुआ आपके बाहरी कान और भीतरी इन्द्रियाँ दोनों ही ठीक थीं। घड़ी की आवाज भी आपके कान तक पहुँची किन्तु आप सुन नहीं पाये। यह इसलिये कि आपका मन उस समय वहाँ नहीं था वह पुस्तक में लगा था। इससे यह सिद्ध होता है कि मन की सहायता के बिना हम इन्द्रियों के ठीक रहते हुए भी उनसे अनुभव नहीं कर सकते।

बुद्धि : इस मन को भी नियंत्रित करने वाली एक शक्ति है और वह है बुद्धि। जब हमारा मन इधर उधर बहुत भटकने लगता है। या निरर्थक अनर्गल बातें सोचने लगता है। तब हम बुद्धि के द्वारा ही उसे नियंत्रित करते हैं। अतः यह बुद्धि मन से श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। यह मन को वश में कर सकने की शक्ति रखती है।

साधारण अवस्था में बुद्धि उतनी बलवान और विवेकयुक्त नहीं होती। उसे प्रयत्नपूर्वक प्रशिक्षित करना होता है। यह काम हर यात्री को स्वयं करना पड़ता है। हमारी बुद्धि को कोई दूसरा व्यक्ति प्रशिक्षित नहीं कर सकता। दूसरे लोग केवल कुछ उपाय भर बता सकते हैं। बुद्धि को बलवान और शुद्ध करने की पद्धतियाँ भर बता सकते हैं। उनका अभ्यास कर बुद्धि का संस्कार तो हमको ही करना पड़ेगा। इस रास्ते पर अकेले ही चलना पड़ता है। एकला चलो रे!

बुद्धि को प्रशिक्षित और बलवती करने का सबसे अच्छा और सरल उपाय है सत्संग। ऐसे लोगों का संग जिनने अपनी बुद्धि को प्रशिक्षित और शुद्ध किया है, या उस दिशा में अत्यन्त प्रयत्नशील हैं। जो लोग विवेकवान है। उनका अधिक से अधिक संग करने पर हमारी बुद्धि पर उनके सत्संग का प्रभाव धीरे-धीरे होने लगता है। हमारे भीतर प्रेरणा जागती है कि हमें भी अपनी बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये, प्रशिक्षित करना चाहिये। धीरे धीरे हम उसी प्रकार का आचरण करने लगते हैं तथा हमारी बुद्धि शुद्ध और प्रशिक्षित होने लगती है।

आत्मा : इस बुद्धि के परे आत्मा है। वास्तव में सभी शक्ति और ज्ञान का श्रोत है यही आत्मा। आत्मा की शक्ति से ही सभी शक्तिवान हैं। आत्मा की शक्ति को पहचान कर ही हम अपने मन और बुद्धि को शक्तिशाली बना सकते हैं। (क्रमशः)

सुख का उपाय

तुम विश्व के साथ एक हो। जो स्वयं को दूसरों से जरा भी, बाल की नोंक के बराबर भी अलग मानता है, वह तत्काल ही दुखी हो जाता है। जो इस एकत्व भाव का, सृष्टि से एकत्व का अनुभव करता है, वही सुख का अधिकारी होता है।

— स्वामी विवेकानन्द

श्री चैतन्य महाप्रभु (२६)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। - सं.)

रथचक्र के नीचे देहत्याग की इच्छा से सनातन रथयात्रा-उत्सव की प्रतीक्षा कर रहे थे। अपने हृदय की अभिलाषा का किसी को आभास न होने देते हुए वे भगवच्चर्चा में परमानन्दपूर्वक दिन बिता रहे थे। एक दिन उनके साथ तत्त्व विषय पर चर्चा करते हुए सहसा चैतन्यदेव का मुखमण्डल गम्भीर हो उठा और वे धीर-गम्भीर वाणी में कहने लगे, "सनातन, देह त्याग देने से कृष्ण की प्राप्ति नहीं हो जाती, अन्यथा मैं क्षण भर में करोड़ों बार देहत्याग कर देता। देहत्याग के द्वारा नहीं, भजन के द्वारा कृष्ण की प्राप्ति होती है। भक्ति को छोड़ उन्हें पाने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। देहत्याग आदि तमो धर्म हैं और तमोरज: धर्म के द्वारा कृष्ण के मर्म की उपलब्धि नहीं होती। बिना भक्ति के कभी कृष्ण के प्रति प्रेम का उदय नहीं होता और प्रेम के बिना किसी भी हालत में कृष्ण-प्राप्ति नहीं हो सकती। देहत्यागादि तमोधर्म तथा पाप का मूल है, उसके द्वारा साधक को कृण्ण के पादपद्म नहीं मिलते। प्रेमी-भक्त उनके वियोग में देह त्याग देना चाहता है, परन्तु प्रेम से कृष्ण की प्राप्ति होती है अत: वह मर भी नहीं पाता। प्रगाढ़ अनुराग के फलस्वरूप वियोग असह्य हो उठता है और इस कारण अनुरागी अपनी मृत्यु की कामना मात्र करने लगता है। कुबुद्धि को छोड़कर श्रवण-कीर्तन में मनोनियोग करो। इससे तुम्हें शीघ्र ही कृष्ण-प्रेम रूपी धन की प्राप्ति हो जाएगी। निम्न जाति का होने से न तो कोई कृष्ण भजन के अयोग्य हो जाता है और न ही सत्कुल में पैदा होने मात्र से विप्र भजन के योग्य हो जाता है। उनका भजन करनेवाला ही बड़ा है और जो उनकी भक्ति नहीं करता, वह हीन और तुच्छ हो जाता है। कृष्ण-भजन में जाति, कुल आदि का कोई भेदभाव नहीं है। दीनों पर ही भगवान की अधिक दया होती है, क्योंकि कुलीन, पण्डित और धनिकों में बड़ा अभिमान होता है।"

सनातन चकित-विस्मित हो गये। उन्होंने अपने हृदय की दुर्बलता की बात चैतन्यदेव से व्यक्त करते हुए अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ उनके चरणों में पड़कर क्षमा याचना की। चैतन्यदेव ने उन्हें दिलासा देते हुए विशेष रूप से समझाया कि आत्महत्या महापाप है। महाप्रभु द्वारा इस प्रकार हीन कर्म से

विरत और साधन-भजन में उत्साहित किये जाने के पश्चात् सनातन ने हाथ जोड़कर कातरतापूर्वक कहा, "मैं नीच, अधम और पामर स्वभाव का हूँ। मुझे बचाकर आपको भला क्या लाभ होगा?" उत्तर में चैतन्यदेव बोले, 'तुमने मुझे आत्मसमर्पण किया है, अतः तुम्हारी देह मेरी निजी सम्पदा है। दूसरे की सम्पत्ति को नष्ट करने का तुम्हें क्या अधिकार है? क्या तुम धर्म और अधर्म का विचार नहीं कर पाते? तुम्हारा शरीर मेरा एक महत्त्वपूर्ण यन्त्र है। इसके द्वारा मैं अपना बहुत सा उद्देश्य सिद्ध करूँगा।"

उन्हें इस प्रकार समझाकर शान्त करने के बाद महाप्रभु बोले, "सनातन, माता के आदेश पर मैं नीलाचल में निवास कर रहा हूँ। इस स्थान को त्यागकर मैं अन्यत्र नहीं जा सकता। मेरी विशेष इच्छा है कि तुम दोनों भाई श्रीकृष्ण की जन्मभूमि व्रजमण्डल में रहकर उनके लीलास्थान रूपी लुप्त तीर्थों का उद्धार करो और शुष्क-ज्ञानप्रधान उत्तर-पश्चिमी भारत में उपासना मार्ग तथा शुद्धाभक्ति का प्रचार करके वहाँ के त्रितापदग्ध दुर्बल मनुष्यों को शान्तिलाभ का सुगम पथ दिखलाओ। तुम दोनों बुद्धिमान और त्यागी भाई ही इन महान कार्य को पूरा करने के उपयुक्त हो।"

यह सुनकर सनातन के अन्तर का भाव पूर्णतः परिवर्तित हो गया। उन्होंने देहत्याग का संकल्प त्यागकर चैतन्यदेव के चरणों में आत्मसमर्पण किया तथा उनके निर्देशानुसार परम आनन्द के साथ पुरी में निवास करने लगे। सनातन के शरीर पर अब भी खुजली का प्रकोप था, परन्तु चैतन्यदेव उसकी परवाह न करते हुए, देखते ही उन्हें प्रेमालिंगन प्रदान करते थे। अपनी देह के रक्त-मवाद से महाप्रभु के पवित्र अंगों को कलुषित होते देखकर सनातन को असीम दुःख होता। इसी भय वे दूर खिसक जाना चाहते, परन्तु प्रेमिक संन्यासी उनका सप्रेम आलिंगन कर ही लेते। सनातन बारम्बार उनसे स्पर्श तथा आलिंगन न करने की प्रार्थना करते, बड़ा अनुनय-विनय करते, परन्तु चैतन्यदेव इस पर ध्यान ही न देते थे। ज्यादा अनुरोध करने पर महाप्रभु कहते, "तुम्हारे शरीर का रक्त-पीब तुम्हें घृण्य प्रतीत हो सकता है, पर मुझे तो वह चन्दन के समान लगता है।"

एक दिन सनातन ने अपने मन का खेद जगदानन्द पण्डित के सम्मुख व्यक्त करते हुए, उनसे इसके प्रतिकार का उपाय पूछा। दोनों के बीच काफी विचार-विमर्श हुआ। अन्य कोई चारा न देख, जगदानन्द ने उन्हें यथाशीघ्र पुरी छोड़कर वृन्दावन चले जाने का परामर्श दिया। रथयात्रा के पश्चात् ही वृन्दावन जाने का संकल्प करके सनातन ने चैतन्यदेव को सूचित किया।

उनके मुख से सहसा ही चले जाने की बात सुनकर महाप्रभु ने अत्यन्त विस्मित होकर पूछा, ''इतना शीघ्र लौटने का क्या कारण है?'' सनातन ने हाथ जोड़कर सरल हृदय से कहा, ''मैं नीच अस्पृश्य हूँ, यहाँ रहकर तरह तरह से अपराधी हो रहा हूँ और विशेषकर मेरे देह का रक्त-पीब आपके देवशरीर में लगकर उसे अपावन कर रहा है, यह तो मेरे लिए बिल्कुल ही असह्य हो उठा है। इस विषय में मैंने पण्डित जगदानन्दजी से चर्चा की थी। उनका भी मत है कि शीघ्रातिशीघ्र यह स्थान छोड़कर चले जाना ही मेरे लिये उत्तम होगा।'' जगदानन्दजी सदा इस कोशिश में रहते थे कि चैतन्यदेव का शरीर स्वस्थ रहे तथा उन्हें कोई पीड़ा या कष्टादि न हो, परन्तु वे इसमें विशेष सफल नहीं हो पाते थे, क्योंकि कठोर संन्यासी देह-सुख की उपेक्षा ही किया करते थे।

जगदानन्दजी के अन्तर में उठने वाली यह आशंका स्वाभाविक ही थी कि कहीं खुजली का यह संक्रामक रोग चैतन्यदेव के कोमल शरीर में भी न लग जाय। महाप्रभु को जब मालूम हुआ कि जगदानन्द की सलाह पर ही सनातन इतने शीघ्र चले जाने के इच्छुक है, तो वे पण्डित के प्रति अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुए बोले, ''कल का छोकरा जगा इतना अहंकारी हो गया है कि अब वह तुम सबको उपदेश देने लगा है! व्यवहार व परमार्थ की दृष्टि से तुम उसके गुरुतुल्य हो। और अपनी औकात न समझकर वह तुम्हें उपदेश देने चला है! तुम सच्चे आर्य हो, मेरे भी उपदेष्टा हो, तुमको उपदेश देकर उसने बच्चों जैसा कार्य किया है।'' चैतन्यदेव को शान्त करने के लिए सनातन ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, ''प्रभो, पण्डित का कोई दोष नहीं। मेरे इच्छा व्यक्त करने पर ही उन्होंने यह उपाय बताया। अपने सड़े शरीर का रक्त-पीब आपके पवित्र शरीर पर लगने के भय से मैं स्वयं ही यथाशीघ्र यह स्थान छोड़कर चला जाना चाहता हूँ।'' सनातन के इस कथन पर सन्यासि-शिरोमणि परमहसाचार्य का मुखमण्डल और भी उद्दीप्त हो उठा। वे गम्भीर स्वर में कहने लगे, ''यह भला है और यह बुरा है – ऐसा द्वैतज्ञान मन का धर्म और भ्रम है। मैं सन्यासी हूँ। समदृष्टि ही मेरा धर्म है। चन्दन और कीचड़ में मेरी समबुद्धि है। इस कारण मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता। यदि में घृणाबोध करूँ तो मेरे धर्म का लोप हो जाएगा।''

अद्वैततत्त्वविद् ब्रह्मविज्ञानी आत्माराम योगी के निर्विकल्प समाधि द्वारा परिशुद्ध महान अन्तःकरण का परिचय पाकर हरिदास और सनातन विस्मित और अवाक् रह गये। तदुपरान्त महाप्रभु ने उन्हें स्नेहपूर्वक समझाते हुए

कहा, "जैसे माता के शरीर पर शिशु का मल-मूत्र लग जाने पर उसे घृणा तो नहीं, बल्कि और भी सुख होता है। जैसे बालक का मल-मूत्र उसे चन्दन के समान भाता है, वैसे ही सनातन के मवाद से मेरे चित्त में घृणा का भाव नहीं उपजता।" सर्वत्यागी संन्यासी में विद्यमान मातृहृदय के माधुर्य ने हरिदास और सनातन को भावविह्वल कर दिया। अपने आश्रितों के प्रति उनके इस अतुल्य स्नेह का परिचय पाकर उनका चित्त विगलित हो उठा। चैतन्यदेव उन्हें अभय देते हुए बोले, "भगवान् को समर्पित भक्तों का शरीर अति पवित्र होता है।" तदुपरान्त उन्होंने अतीव प्रीतिसह सनातन से कहा, "सनातन, तुम खेद न करना। तुम्हारे आलिंगन से मुझे बड़ा सुख मिलता है। इस वर्ष तुम यहीं मेरे साथ रहो, अगले वर्ष मैं तुम्हें वृन्दावन भेजूँगा।"

चैतन्यदेव के स्नेहाशीर्वाद, भक्तों के सेवायत्न तथा पुरी के जलवायु के गुण से सनातन का शरीर पूर्णरूप से निरोग और सबल हो गया। महाप्रभु के आदेशानुसार वे परमानन्द सहित पुरी में ही निवास करने लगे। रथयात्रा का दिन निकट आ गया। यथासमय गौड़ के भक्तगण वेणु, सिंगा, खोल, करताल आदि के साथ कीर्तन करते और उसके ध्वनि से दिग्मण्डल को गूँजाते पुनः पुरी आ पहुँचे। उन लोगों के आगमन से पुरी के आनन्द-मेले में सौगुनी श्रीवृद्धि हो गयी। प्रभुपाद नित्यानन्द, आचार्य अद्वैत, श्रीवास तथा मुरारी आदि सभी सनातन से मिलकर विशेष हर्षित हुए। गौड़ीय भक्तों के साथ पुरी में चैतन्यदेव के आनन्दोत्सव की बातें – महासंकीर्तन, गुण्डिचा मार्जन, रथ के सामने नृत्य-कीर्तन, अपूर्व उल्लास, अत्यद्‌भुत प्रेमाभिव्यक्ति, देह-मन में दिव्य भाव का प्रकाश तथा महाप्रभु के और भी लीला-रसरंग का वर्णन भक्तों के मुख से सुनकर सनातन बड़े उत्सुक हो उठे थे। इस बार पुनः उन समस्त भावों के अभिव्यक्त होने पर सनातन ने जी भरकर उस लीलारस का आस्वादन किया। चातुर्मास्य पूरा हो जाने पर गौड़ीय भक्तगण निर्दिष्ट तिथि को चैतन्यदेव से विदा लेने आये। वह अद्‌भुत प्रेम-दृश्य देखकर सनातन का हृदय मोहित हो गया।

मन्दिर के पुजारी व सेवकों के अंग से कहीं अपने देह अथवा छाया का स्पर्श न हो जाय, इस भय से सनातन सदा बड़ी सावधानीपूर्वक चलना-फिरना करते थे। यहाँ तक कि इसी भय से वे मन्दिर के सामने के राजपथ पर भी नहीं चलते थे। ग्रीष्म ऋतु का समय था। एक भक्त के भिक्षा प्रदान करने के आन्तरिक आग्रह को स्वीकार करके एक दिन पूर्वाह्न में ही महाप्रभु ने उनके भवन में पदार्पण किया। उनका मकान समुद्रतट पर ही स्थित था।

समुद्र में स्नान करने के पश्चात् वे उसी रमणीय स्थान में बैठकर अनन्त नीलाम्बुराशि की लीला-लहरी को देखने तथा देहप्राण को सुशीतल करनेवाले स्निग्ध समीर का सेवन करने लगे। इससे उनके अन्तर में अतीव हर्ष का संचार हुआ। मध्याह्न के समय उन भाग्यवान भक्त ने विविध प्रकार के उत्तम खाद्यपदार्थ सजाकर अतीव भक्तिपूर्वक आकर उनसे भिक्षा ग्रहण करने का अनुरोध किया। उस समय उनका हृदय सनातन के लिए व्यग्र हो उठा। उनका मनोभाव समझकर गृहस्वामी ने तुरन्त ही सनातन को बुलाने आदमी भेजा और काफी अनुनय-विनय करके चैतन्यदेव को भोजन के लिए बैठाया। महाप्रभु का सन्देश पाते ही सनातन चल पड़े। पुरी के भीतर मन्दिर के सामने से होकर जो अच्छा रास्ता है, श्री जगन्नाथ के सेवकों के स्पर्श-भय से वे उससे नहीं गये। पुरी के बाहर समुद्र के किनारे से होकर एक अन्य बालुकामय पथ है। ग्रीष्मकाल की तपती दुपहरी थी। मध्याह्न मार्तण्ड के प्रचण्ड ताप से समुद्री-बालुकाराशि ज्वलन्त अग्नि के समान तप रही थी। प्रभु का आदेश पाकर सनातन खाली पाँव ही उस तपते बालू पर तेजी से चलने लगे कि कहीं प्रभु को उनके लिए प्रतीक्षा न करनी पड़े।

प्रभुगतचित्त सनातन को उस तप्त बालुकाराशि के ताप का बिल्कुल भी बोध नहीं हुआ। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि चैतन्यदेव भोजन करके उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सनातन ने उनकी चरण-वन्दना की और तदुपरान्त महाप्रभु ने परम स्नेह के साथ उन्हें अपने निकट बैठाकर शीतल किया और उनका पथश्रम दूर हो जाने के बाद उन्होंने अपने सेवक गोविन्द को आदेश देकर उन्हें अपने भोजन का अवशिष्ट प्रसाद दिलवाया। उस अमृत को पाकर सनातन के आनन्द की सीमा न रही। सनातन के प्रति प्रभु की अपार स्नेह-करुणा देखकर गृहस्वामी का अन्तर भी पुलकित हो उठा।

भोजनोपरान्त सनातन जब चैतन्यदेव के समीप आकर बैठे, तब उन्होंने प्रश्न किया, ''किस रास्ते से आये?'' विनयपूर्वक सनातन ने उत्तर दिया, ''समुद्र के किनारे के पथ से।'' विस्मित होकर चैतन्यदेव ने पूछा, ''उस आग के समान तपते बालू पर तुम चले कैसे?'' उत्तर में सनातन ने कहा, ''वैसा गरम तो नहीं प्रतीत हुआ।'' चैतन्यदेव ने नजर डालकर देखा कि सनातन के पाँव के नीचे अनेक फफोले पड़ गये हैं। इस पर उन्होंने काफी खेद व्यक्त किया और शिकायत के स्वर में बोले, ''तुम अच्छे रास्ते से क्यों नहीं आये?'' आते समय सनातन इतने तद्‌गतचित्त हो गये थे कि शरीर के कष्ट का उन्हें बोध ही नहीं हुआ। वहाँ पहुँचते ही प्रभु के अपार स्नेह-पाकर

से उनका चित्त आनन्द से भरपूर हो गया था और अब पुन: अपने देह के प्रति प्रभु की ममता देखकर उनका अन्तर विगलित हो उठा। जब सनातन ने अतिशय विनयपूर्वक बताया कि सेवक लोगों के स्पर्श-भय से ही वे अच्छे रास्ते से आने का साहस नहीं कर सके, तो इस पर चैतन्यदेव बड़े आनन्दित हुए। सनातन अपने देह की परवाह न करके भी शास्त्रविधि पालन करने का प्रयास कर रहे हैं, यह देख महाप्रभु उनकी प्रशंसा करते हुए बोले, ''यद्यपि तुम जगत्पावन हो और तुम्हारे स्पर्श से देवतागण भी पवित्र होते है, तथापि मर्यादा का पालन भक्त का स्वभाव है, साधु का आभूषण है। मर्यादा का उल्लंघन करने से लोग उपहास करते हैं तथा इहलोक परलोक दोनों का नाश होता है। तुम्हारे मर्यादा का रक्षण करने से मेरा मन सन्तुष्ट हुआ। तुम्हीं यदि ऐसा न करो तो दूसरा कौन करेगा !''

सनातन को एक वर्ष अपने समीप रखकर चैतन्यदेव ने उपयुक्त शिक्षा देकर तथा साधन-भजन, कराकर उन्हें अपने भक्तिमार्ग के आचार्य के रूप में तैयार किया। तत्पश्चात् भविष्य में किस प्रकार अपना जीवनयापन और कार्य का संचालन करना होगा – इस विषय में विशेष रूप से उपदेश देकर उन्होंने सनातन को व्रजमण्डल जाने का आदेश दिया। चैतन्यदेव का शुभाशीष तथा चरणधूलि शिरोधार्य कर जब सनातन भक्तों के पास विदा माँगने आये तो सभी प्रेमाश्रु बहाने लगे। एक शुभ दिन श्री जगन्नाथजी से कृपायाचना करने के बाद सनातन ने उसी पूर्वपरिचित पथ से वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया। लौटते समय इस बार पहले के समान कष्ट नहीं हुआ। मार्ग में विभिन्न तीर्थों का दर्शन करते हुए सनातन यथासमय वृन्दावन जा पहुँचे और कुछ काल बाद रूप भी गौड़ में अपना कार्य समाप्त कर उनसे आ मिले। इसके बाद से दोनों भाइयों ने अपना शेष जीवन व्रजमण्डल में ही बिताकर चैतन्य महाप्रभु के आदेश व उपदेशानुसार प्रेमभक्ति मार्ग का प्रचार करते हुए जीव-जगत् का असीम कल्याण साधित किया था। उनके माहात्म्य का वर्णन करते हुए 'चैतन्य-चरितामृतकार' ने लिखा है, "सिन्धु नदी के तट और हिमालय के बीच वृन्दावन, मथुरा आदि जितने भी तीर्थ हैं, दोनों भाइयों के प्रेम से सभी ओतप्रोत हो गये। प्रेमफल का आस्वादन करके वहाँ के लोग उन्मत्त हो उठे। पश्चिमी भारत के मूढ़ तथा अनाचारी लोगों के बीच इन दोनों भाइयों ने भक्ति और सदाचार का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने शास्त्रों का अध्ययन करके लुप्त तीर्थों का उद्धार तथा वृन्दावन में श्रीमूर्ति की सेवा का प्रचार किया।'' (क्रमशः)

त्याग और अनासक्ति (१)

स्वामी यतीश्वरानन्द

(स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष थे। उनका 'Meditation and Spiritnal Life' ग्रन्थ साधना-क्षेत्र में मार्गदर्शन करनेवाली एक अप्रतिम कृति है। उसी के एक अत्यन्त उपयोगी अंश का अनुवाद हम यहाँ प्रकाशित कर रहे है; अनुवादक है स्वामी ब्रह्मेशानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं। - सं.)

त्याग की आवश्यकता

यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है कि इतना कष्ट भोगने पर भी लोगों की आँखें नहीं खुलतीं, बल्कि वे नाना प्रकार के मिथ्या तादात्म्यों से चिपके रहते हैं। सारा संसार काम और कांचन की इच्छा से आबद्ध है। लोग इन्हें जीवन का लक्ष्य बनाते हैं और परिणाम में दुःख पाते हैं। अपनी तथा दूसरों की देह के साथ तादात्म्य स्थापित कर हम अनेक प्रकार के भावनात्मक बन्धनों में पड़ जाते हैं, तथा अन्तहीन कष्ट भोगते हैं। अवश्य ऐसे भी लोग हैं, जो इन्हीं पर पलते हैं। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, – ऊँट कँटीली झाड़ी खाता है, और मुँह से रक्त बहने पर भी खाता ही जाता है। लेकिन आध्यात्मिक साधक इस तरह जीवन यापन नहीं कर सकता। उसने अपने लिए एक उच्चतम लक्ष्य निर्धारित कर लिया है और वह सांसारिक बन्धनों में अपना समय नष्ट नहीं कर सकता। अतः वह अनासक्ति और त्याग के विषय में गम्भीरता से विचार प्रारम्भ करता है।

सभी धर्मों में त्याग को आध्यात्मिक जीवन में प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। धन और लोभ, काम और यौन प्रवृत्ति तथा अहंकार सभी धर्म -शास्त्रों और सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तियों ने इन तीनों के त्याग पर बल दिया है। त्याग के बिना आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं है। और त्याग का अर्थ केवल बाहरी त्याग नहीं है बल्कि मानसिक त्याग भी है। हमें अपने तथा दूसरों के देह और मन के साथ अपना सारा लगाव त्यागकर वास्तविक रूप से सभी प्रकार से अनासक्त और विरक्त होना चाहिए। कुछ वस्तुओं तथा व्यक्तियों के सन्दर्भ में ऐसा करते हुए भी दूसरों से और अधिक चिपके रहने से काम नहीं चलेगा। जिन्हें हम नहीं चाहते ऐसी वस्तुओं और व्यक्ति से दूर रहना और इसे त्याग कहना, आसान है। सभी के प्रति दृष्टिकोण का परिवर्तन ही सच्चा त्याग है।

त्याग आवश्यक क्यों है? हमें इतने वैराग्य और अनासक्ति का अभ्यास क्यों करना चाहिए? वस्तुओं और व्यक्तियों के सहित पुराने सभी सम्बन्ध, जो साधक के सहायक नहीं है, का त्याग किये बिना सफलतापूर्वक साधना नहीं की जा सकती। जिस मात्रा में हम अपनी इच्छाओं और वासनाओं को तथा दूसरों के प्रति हमारी रागात्मक अथवा द्वेषात्मक आसक्ति को त्यागने के लिए तत्पर हैं; उसी मात्रा में हम सच्चे धर्म का सफलतापूर्वक पालन कर प्रगति कर सकते हैं। इस विषय में मन के धोखे में मत आओ। मन सदा कुछ न कुछ युक्ति सुझाने का प्रयत्न करता है कि हम अमुक वस्तु को क्यों नहीं त्याग सकते अथवा अमुक स्त्री या पुरुष से बात करना हमारा कर्तव्य है, इत्यादि। इन अवसरों पर अपने मन का भरोसा कभी न करो। वह तुम्हें धोखा देने के लिए सदा तत्पर रहता है और तुम्हारी अवचेतन अथवा अचेतन इच्छाओं की पैरवी करना चाहता है। अतः हमें केवल जप, ध्यान, प्रार्थना तथा अन्य साधनाओं की ही आवश्यकता नहीं है, अपितु त्याग की भी आवश्यकता है। वस्तुतः जप और ध्यान उसी मात्रा में प्रभावशाली होते हैं, जिस मात्रा में हम अधिकाधिक त्याग और अनासक्ति अर्जित करते हैं। जब ये दो – आध्यात्मिक साधना और त्याग – एक साथ होते हैं, तभी हमारे लिए मन को नियंत्रित करना तथा उसके दरारों और कोनों में जन्म-जन्मान्तरों से अनेक प्रकार के जिस मैल को हमने जमने दिया है, उसकी सफाई प्रारम्भ करना सम्भव होता है।

अत्यधिक सांसारिकता अग्नि के समान है, वह हृदय को जला देती है। वह व्यक्ति को प्रमादी और आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति संवेदनहीन बना देती है। सांसारिक व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन के आनन्दों को नहीं समझ सकता। सांसारिक व्यक्ति में प्रज्ञा की क्षमता इतनी क्षीण हो जाती है कि वह उच्चतर स्पन्दनों के प्रति संवेदनशील नहीं रह पाता। उसे आध्यात्मिक सत्यों की कोई धारणा नहीं होती और वह अपनी इच्छाओं और वासनाओं के दलदल में डूबा रहता है।

प्रेम और आसक्ति

जिन वस्तुओं और व्यक्तियों को हम चाहते है, वे हमारे मन को आकर्षित कर आसक्ति, राग और द्वेष की सृष्टि करते हैं। प्रेम और घृणा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; इस विषय में कभी गलती नहीं करना। अतः

वे एक ही श्रेणी में आते हैं। द्वेष तथा घृणा, प्रेम अथवा आसक्ति का ही परिवर्तित रूप हैं। वह उससे मूलतः भिन्न नहीं हैं। सभी व्यक्तिगत रुचियों अरुचियों से मुक्त, एवं निर्वासिना होकर हमें सभी प्रकार की आसक्तियों एवं सभी प्रकारों के भय को दूर कर देना चाहिए। हमें बिना कभी आसक्त हुए दयालु होना चाहिए। किसी पर अथवा किसी के प्रेम पर कभी भी व्यक्तिगत दावा नहीं करना चाहिए और न ही हमें किसी को हम पर अथवा हमारे स्नेह पर व्यक्तिगत अधिकार जताने देना चाहिए।

ईश्वर से प्रेम करो और दूसरों को भी ऐसा करने दो। ईसा मसीह ने कहा है, ''जो माता अथवा पिता को मुझसे अधिक प्रेम करता है वह मेरे उपयुक्त नहीं हो सकता, और जो पुत्र अथवा पुत्री को मुझसे अधिक प्रेम करता है वह मुझे पाने योग्य नहीं हो सकता; '' और इससे बड़ा सत्य और कुछ नहीं है। और यह भी सत्य है कि जो, किसी व्यक्ति को उसे परमात्मा से अधिक प्रेम करने देता है, वह परमात्मा के लायक नहीं है। और भले ही वह कितनी ही मेहनत करे, परमात्मा को प्राप्त कभी नहीं कर सकता। जैसी करनी वैसी भरनी होती है, और जब तक हम इस रुचि अरुचियों के पाशों को हमें तथा दूसरों को, तथाकथित प्रेम की जंजीरों से बँधने देंगे, तब तक हम बद्ध दास बने रहेंगे तथा अपने तथा दूसरों के दुःख का कारण होंगे। दुःख हमारी आसक्तियों का जुर्माना है जो हमें चुकाना पड़ता है। कुछ लोगों में यह शीघ्र आता है, कुछ में देर से, पर सभी को अपनी गलतियों का मूल्य चुकाना पड़ता है।

जब लोग हमें प्रेम करते है, तो हम फूले नहीं समाते। हम दूसरों के लिए आकर्षक बनना चाहते है। दूसरों के भोग के विषय के रूप में उनके प्रिय बनना पसंद करते हैं। लेकिन प्रायः हम इतने व्यग्र और नासमझ होते है कि इस तरह हम अपने और दूसरों के लिए समस्याएँ पैदा कर अपनी आध्यात्मिक प्रगति को रुद्ध कर रहे हैं, यह नहीं जान पाते। हमें अपना आत्मसम्मान एवं सुरक्षा बनाए रखना चाहिए। हमें ऐसा रुख अपनाना चाहिए कि लोग हमारे निकट गलत उद्देश्य से आने का साहस ही न करें। मैं यह बात विशेष कर महिलाओं के लिए कह रहा हूँ। शौर्य की पाश्चात्य धारणा का आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है।

भक्त और साधक हमारे अपने हैं क्योंकि हम भगवद्-भक्ति की चिरस्थायी सामान्य डोर से बँधे हैं। अपने आध्यात्मिक बन्धु के प्रति प्रेम सांसारिक प्रेम से कहीं अधिक गहरा और लाभकारी होता है। ईसा मसीह के शिष्यों, श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के परस्पर सम्बन्ध को देखो। कैसा मधुर प्रेम, तथा एक दूसरे के प्रति कैसा आदर और सद्भावना उनमें विद्यमान थी। श्रीरामकृष्ण के महान शिष्यों के संस्पर्श में आने पर युवावस्था में हमने भी उनके तीव्र किन्तु पवित्र और निःस्वार्थ प्रेम के गहरे आकर्षण का अनुभव किया था। एक आध्यात्मिक व्यक्ति में ही दूसरों के प्रति सच्चा प्रेम होता है। सांसारिक लोगों का तथाकथित प्रेम प्रायः सूक्ष्म स्वार्थपरता होती है। ज्ञानी व्यक्ति सभी को समान रूप से प्रेम करते हैं क्योंकि उन्होंने उपनिषद ☆के निम्नोक्त प्रसिद्ध कथन की सत्यता की अनुभूति की है –

"पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, बल्कि आत्मा के लिए पति प्रिय होता है।पत्नी के प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, बल्कि आत्मा के लिए पत्नी प्रिय होती है। पुत्र के प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, बल्कि आत्मा के लिए पुत्र प्रिय होता। सभी वस्तुएँ उनके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होतीं बल्कि आत्मा के लिए प्रिय होती है।"

ज्ञानी पुरुषों का जीवन हमें यह शिक्षा देता है कि त्याग और अनासक्ति का अर्थ उपेक्षा अथवा निष्ठुरता नहीं है। निष्ठुरता आनासक्ति नहीं है, वह स्वार्थपरता तथा स्वयं के अहंकार से चिपके रहना मात्र है। यथाशक्ति दूसरों की सहायता करने का प्रयत्न करो, पर उनसे आसक्त होने से बचने के लिए सभी सावधानियाँ बरतो। यदि ऐसा न कर सको तो दूसरों के कल्याण के लिए प्रभु से प्रार्थना करो। निष्ठापूर्वक तीव्र प्रार्थना करने पर तुम पाओगे कि जिन्हे तुम सहायता करना चाहते हो, उन्हें सहायता प्राप्त हो रही है। लेकिन याद रखो, दूसरों के लिए प्रार्थना करने के लिए प्रभु के सान्निध्य का अनुभव होना चाहिए। यदि आसक्त हुए बिना रहा नहीं जा सकता, तो उनकी सहायता न करना ही अच्छा है। तुम्हारे लिए प्रार्थना करना ही श्रेयस्कर है। वस्तुतः सभी निष्ठावान साधकों को दूसरों के लिए की गई ऐसी प्रार्थना को अपने दैनन्दिन साधना का अंग बना लेना चाहिए।

☆ बृहदारण्यक उपनिषद् २/ ४/ ५

सांसारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन के परिवर्तन के काल में कुछ समय के लिए हममें दूसरों के प्रति उपेक्षा का भाव आ सकता है। स्वयं की रक्षा के लिए हम उपेक्षा के भाव को मन में स्थान भी दे सकते हैं, लेकिन केवल कुछ समय के लिए। ईश्वर-साक्षात्कार के आदर्श को स्वीकार करने तथा पवित्र जीवनयापन करने पर तुम पाओगे कि तुम्हारा दूसरों के प्रति पुरातन प्रेम पवित्र और उदात्त होकर पुनः आ गया है, जिसमें से आसक्ति दूर ही गई है, और उसका स्थान तीव्र भगवद्भक्ति ने ले लिया है। तब तुम दूसरों को बिना किसी स्वार्थ के परमात्मा के रूप में प्रेम करने लगते हो। केवल यही सच्चा प्रेम है, हमें दोनों खतरों से बचकर चलना चाहिए। प्रथम, दूसरों के प्रति मानवीय प्रेम रखना व उसे भ्रमवश दिव्य कहना और दूसरा, अच्छी भावनाओं के प्रति भी अत्यधिक उपेक्षा और अपने कर्तव्यों की भी अवहेलना करना। ये दोनों ही आध्यात्मिक प्रगति के लिए हानिकारक हैं।

सच्चे सम्बन्धी

हमारे बन्धु बान्धव कौन है? शंकराचार्य अपने एक स्तोत्र में कहते है। –''बान्धवाः शिवभक्ताश्च''☆– शवभक्त मेरे बन्धु-बान्धव हैं। प्रायः जिन्हें हम अपने सगे सम्बन्धी समझते हैं, वे हमारे लिए पूर्ण अजनबी होते है। वे एक बौद्धिक स्तर रहते है, हम दूसरे पर। जो निष्ठावान आध्यात्मिक साधक, द्रुत आध्यात्मिक प्रगति करना चाहते हैं, उन्हें अपने ही घर में अजनबी की तरह रहना सीख लेना चाहिए। मित्र और सम्बन्धी अच्छे और धार्मिक हों तो उनका संग करो। लेकिन यदि वे सांसारिक तथा अधार्मिक मनोवृत्ति के हों और अपने साथ तुम्हें भी नीचे खींचने का प्रयत्न करें, तो उनके संग का त्याग करना ही एकमात्र रास्ता है। तुम आगे बढ़ना चाहो और दूसरे सोये रहना चाहें तो तुम और क्या कर सकते हो?

जिन्हें संसारी और अधार्मिक सम्बन्धियों के साथ रहना पड़ता है, उन्हें अतिथि भवन में अतिथि की तरह रहना चाहिए। उन्हें स्वामित्व का भाव त्यागकर न्यासधारक का भाव लाना चाहिए। कभी किसी पर भावनात्मक अधिकार मत जताओ। वे तुम्हारी संपत्ति नहीं हैं। यदि तुम्हें कुछ रखना हो, तो एक न्यासधारी की तरह उसे अपने पास रखो, स्वामी की तरह नहीं,

---

☆ अन्नपूर्णा स्तोत्र, १२

तथा परमात्मा की ओर से उसका संचालन करो।

अपने परिवार के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाना सीखो। विशुद्ध मानवी प्रेम अथवा द्वेष, आसक्ति अथवा विपरीत लिंग के आकर्षण पर आधारित सभी पुराने समबन्धों से अपने मन को मुक्त करो। तभी वास्तविक आध्यात्मिक साधना सम्भव होगा। इसके पूर्व तक सभी साधना के प्रयास, तैयारी मात्र है; और अधिक कुछ नहीं। किशोरावस्था में मैं बहुत भावुक था। एक दो बार मिलने पर ही मैं लोगों से अत्यधिक आसक्त हो जाया करता था। मैंने यह भी पाया कि मैं अपने माता-पिता, मित्रों एवं सम्बन्धियों के प्रेम से अभिभूत हो जाया करता था, तथा उनके बारे में बहुत सोचा करता था। आखिरकार मेरे लिए ये भावनाएँ असत्य हो गई और मैंने अपने आप से दृढ़तापूर्वक कहा, "इसे बदलना होगा।" तब मैं अधिकाधिक निर्गुण परमात्मा की ओर मुड़ा। सर्वव्यापी परमात्मा का विचार ही व्यक्तियों के प्रति हमारी आसक्ति से मुक्ति दिला सकता है। तुम्हें इसका चिन्तन इतनी तीव्रता से करना चाहिए कि यह तुम्हारे लिए यथार्थ, स्थायी और स्पष्ट हो जायँ। अन्य व्यक्तियों के विचार कभी न कभी बुदबुदों की तरह नष्ट हो जायेंगे। उस समय भी यह विचार तुम्हें सम्बल प्रदान करने में सक्षम होना चाहिए।

द्वेष भी राग या आसक्ति जैसा ही बुरा है। वस्तुतः दोनों एक ही है। जैसा कि मैंने पहले कहा है – राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू है। एक को दूसरे से श्रेष्ठ समझने के भ्रम में कभी न पड़ो। दोनों ही बन्धन हैं और मानव को पतित करके उसे अपने वास्तविक स्वरूप तक उठने नहीं देते। दोनों का त्याग करना चाहिए।

क्रोध का ही प्रश्न लो। हम क्रोध क्यों करते हैं? क्योंकि जिसे हम अपने भोग का विषय समझते हैं उसकी प्राप्ति के मार्ग में कोई व्यक्ति अथवा वस्तु बाधा है। यही हमारे सभी क्रोध का कारण है। यह हमेशा पाया जाता है कि क्रोध का प्रबल व्यक्तित्व बोध अथवा अत्यधिक महत्व दिये गये अहंकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्रबल अहंकार और शारीरिक अथवा मानसिक भोगों की अस्वाभाविक इच्छा के बिना क्रोध हमारे हृदय में उदित हो ही नहीं सकता। अतः यह अहंकार, यह भोगेच्छा ही हमारे क्रोध

का एकमात्र कारण है। अगर हम भोग न चाहें, अगर हम किसी से कुछ भी अपेक्षा न रखें, बल्कि केवल देते जाएँ, और प्रतिदान की आशा के बिना कर्म करते जायें, तो क्रोध कभी पैदा ही नहीं होगा। अतः हमें अपने क्रोध पर क्रोधित होना चाहिए, दूसरों पर नहीं। हमें भोग की वासना पर खूब क्रोध करना चाहिए, विषयों पर नहीं। क्रोध का उदात्तीकरण करके अन्ततः उसे विनष्ट कर देना ही एकं मात्र व्यावहारिक उपाय है। और क्रोध तथा अन्य सम्बन्धित दुर्गुणों को बहुत हद तक दूर किये बिना आध्यात्मिक जीवन में कोई प्रगति नहीं हो सकती। काम – क्रोध आध्यात्मिक पथ के दो महान शत्रु हैं। अतः सभी साधकों को इनको सावधानी से दूर रखना चाहिए।

अत· जहाँ कहीं क्रोध है, वहाँ कुछ न कुछ आसक्ति अथवा अत्यधिक राग अधवा इच्छाएँ हैं। सच पूछो तो किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से आसक्ति के बिना किसी भी प्रकार का क्रोध हो ही नहीं करता। भोग की हमारी इच्छा के पूरी न होने के कारण ही क्रोध होता है। लेकिन इसे स्थूल अर्थ में नहीं बल्कि सूक्ष्म भाव से समझा जाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि कोई स्थूल भोगेच्छा क्रोध के मूल में विद्यमान हो।

कुछ लोग त्याग का अभ्यास करने में आक्रामक हो जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि आसक्ति के खिचाव के कम होने पर द्वेष का खिचाव अधिक हो जाता है। अनेक साधक साधना की प्रारम्भिक अवस्थाओं में चिड़चिड़े और गरममिजाजी हो जाते है। यह उनके त्याग के अधूरे प्रयास की प्रतिक्रिया है। बाह्य त्याग के साथ सदा मानसिक अनासक्ति नहीं होता। मानसिक आसक्ति का बाह्य त्याग के साथ संघर्ष होता है, जो तनाव पैदा करता है। वास्तविक त्याग, राग और द्वेष का त्याग है।

सच्चे त्याग का अभ्यास करने पर हमें यह पता चलता है कि हम तब तक कैसा घृणित जीवनयापन कर रहे थे। हम यह भी अनुभव करते हैं कि अतीत का आकर्षण ही सबसे बड़ी बाधा है। इसके फलस्वरूप ग्लानि और पश्चात्ताप होता है। कुछ मात्रा में स्वस्थ और पुरुषोचित आत्म- विश्लेषण भले ही हो, पर हानिकारक अथवा नकारात्मक भावुकता कभी नहीं होनी चाहिए। ''ओह! मैं कैसा पापी हूँ, कैसा अधम प्राणी हूँ ''– ऐसा न कहो। लेकिन ऐसा कहना सीखो, ''मैंने पहले बुरा काम भले ही किया हो, पर अब

वह समाप्त हो गया है। मैंने जाना है कि मैने गलती की है, लेकिन अब उसका चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है। अब मुझे नया अध्याय प्रारम्भ करना है, तथा भविष्य में बेहतर जीवनयापन करना है। अधिक सजग रहकर पशुतुल्य होने के बदले मानव होना सीखना है।'' यह सही तरीका है। चाहे हम वृद्ध हों या युवा, हम सभी को आत्मा के राज्य में नया जन्म लेकर सत्य की ओर अपनी प्रगति प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

प्रारंभ में सावधानी बरतो

प्रारम्भ में साधना के अच्छे और बुरे दोनों परिणाम होते हैं। बगीचे में जल सींचने पर सुन्दर सुगन्धित गुलाब उगते हैं, लेकिन साथ ही बहुत से झाड़-झंखाड़ भी उगेंगे। अतः बहुत सी काट-छाँट, उखाड़ना, आदि करना होगा। त्याग, आन्तरिक जंगल की निरन्तर सफाई का कार्य है।

कभी हमारे हृदय में त्याग की थोड़ी सी आग प्रज्ज्वलित होती है। पर हम उस पर सांसारिकता के गीले कचरे को पुनः डाल देते है। और वह आग बुझ जाती हैं। संसार के प्रति लगाव परमात्मा के प्रति हमारे थोड़े बहुत प्रेम अथवा उत्साह को समाप्त कर देता है। इस त्याग और वैराग्य की अग्नि को सदा जलाये रखना चाहिए। क्योंकि बाह्य और मानसिक कुसंग तथा हमारे अपवित्र मन की सभी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से इसके बुझने की सम्भावना सदा बनी रहती है। प्रारम्भ में वैराग्य का पौधा बहुत कोमल होता है, जिसके चारों ओर बेड़ा लगाकर तेज हवाओं और पाले से रक्षा करनी पड़ती है। अन्यथा वह तूफानों में अड़िग रहनेवाला दृढ़ वृक्ष नहीं बन सकता। व्यक्तिगत सम्बन्धों, प्रतिक्रियाओं और आसक्तियों से मुक्त होने पर हम अपने भीतर वैराग्य की महान अग्नि प्रज्वलित करने में समर्थ होते है, और इस तरह संसार से मुक्त हो जाते हैं।

अपने मनों को शुद्ध और स्वच्छ रखने के बदले उन्हें सभी प्रकार के व्यर्थ व अपवित्र विचारों से भाते रहने के कारण हमने अनासक्त और सुसंगत रूप से चिन्तन की क्षमता खो दी है। हमारे मन अव्यवस्थित आकुल स्थिति में रहते है। अतः सदा हमें एक असन्तोष काटता रहता है। हमारे पास बहुत से विचार है, अच्छे विचार भी है लेकिन निष्पक्ष अनासक्त और क्रमबद्ध रूप से उन्हें सोचने की क्षमता नहीं है। प्रायः हम एक ही बात बार बार सोचते रहते हैं लेकिन वह सब व्यर्थ ही है। मन को नियंत्रित करने के

लिए तुम्हें एक प्रशिक्षण के दौर से गुजरना होगा। प्रारंभ में साधना के लिए निश्चित समय निर्धारित कर लो और यथासंभव निर्जन वास करो। बिना सोचे विचारे लोगों से मत मिलो। पहले विभिन्न प्रकार के बहुत से चिन्तन प्रवाहों को, जो तुम्हारे मन में एक दूसरे को निष्क्रिय बना रहे हैं, दूर करो। अन्यथा तुम सन्तुलित और निर्लिप्त मनःस्थिति नहीं रख सकोगे। सच्चा वैराग्य आध्यात्मिक प्रगति के लिए अत्यावश्यक है। हम जो चाहते है, वैसी नहीं, बल्कि वस्तुस्थिति जैसी है, हमें उसका उसी तरह सामना करना है।

त्याग और भगवत्प्रेम

आध्यात्मिक जीवन में त्याग और वैराग्य भगवत्प्रेम के साथ होने चाहिए। दूसरे की वृद्धि किये बिना पहले ही बुद्धि के कारण ही बहुत से लोगों के लिये आध्यात्मिक जीवन कठिन हो जाता है। यदि त्याग के साथ परमात्मा के प्रति तीव्र अनुराग हो तो आध्यात्मिक जीवन एक अत्यन्त आनन्ददायक उपक्रम हो जाता है। भगवद्भक्ति पूर्णता प्रदान करती है। अतः जो परमात्मा को सचमुच प्रेम करता है, उसके लिए सच पूछो तो कोई त्याग नहीं, बल्कि संपन्नता ही है। वास्तविक भगवत्प्रेम किसी व्यक्ति प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस नये दृष्टिकोण के विकसित होने पर हमारा जीवन पूरी तरह बदल जायेगा। क्योंकि यह नवीन दृष्टिकोण सभी अवरोधों को तोड़ देता है और सभी बन्धनों को काट देता है। जीव को सभी प्रकार से बाँधना और अवरूद्ध करना कर्म का स्वभाव है। लेकिन सभी कर्मफलों को परमात्मा को समर्पित करने पर यही कर्म सभी बाधाओं को दूर कर देगा। तब हम उसके हाथों के यंत्र मात्र बन जायेंगे तथा यह जान जायेंगे कि हम अपने कर्मों के कर्ता नहीं है। हमें परमात्मा के लिए मठ में, संसार में, और सर्वोपरि अपने हृदय में स्थान बनाना चाहिए।

अतः सच्चे त्याग का अर्थ है, सदा परमात्मा द्वारा हृदय को पूर्ण रखना। सामान्यतः हमारा मन वासनाओं और इच्छाओं से सदा दबा रहता है और जिस मात्रा में हम इस बोझ को कम करने में समर्थ होंगे, उतनी ही मात्रा में हृदय में परमात्मा के प्रकाश का अनुभव होगा। हमें चेतना के केन्द्र को स्वयं से हटाकर परमात्मा में स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए और तब हम पायेंगे कि परमात्मा में हमारे तथा सभी के लिए स्थान है।

(शेष आगामी अंक में)

स्वामीजी के संग नौ मास (२)

स्वामी अचलानन्द

स्वामी विवेकानन्द जैसे एक ओर उच्च आदर्श की शिक्षा दिया करते थे, वैसे ही अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यों की सर्वांगीण नैतिक पवित्रता अथवा उन्नति कैसे हो, इस ओर भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी। छोटे-मोटे सामान्य कार्य भी सिखाने की ओर उनका ध्यान था। दूसरों के पत्र पढ़ना, कोई लिख रहा है तो उसे देखने का प्रयास करना, छिपकर दूसरों की बातें सुनना – यह सब उन्हें बिलकुल भी पसन्द न था। बल्कि किसी के ऐसा करने पर वे उसे आड़े-हाथों लिया करते थे। इसी तरह की एक घटना का उल्लेख करता हूँ।

एक बार स्वामीजी एक पत्र लिख रहे थे। मैं पास ही बैठा था। उनका पत्र देखने की मेरी इच्छा न थी, तथापि अन्यमनस्क भाव से एक बार मेरी दृष्टि उस पर पड़ गयी। स्वामीजी तुरन्त डाँटते हुए बोले, "खबरदार, कभी दूसरों के पत्र मत पढ़ना। यह बड़ा गलत कार्य है।" फिर पूज्यपाद हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) से सुना है – एक बार स्वामी जी ने उन्हें एक पत्र डालने को दिया था। हरि महाराज ने उसके ऊपर का पता पढ़ लिया। इसे देख स्वामीजी ने कहा था, "हरि भाई, यह पत्र मैंने तुम्हें पता पढ़ने के लिए नहीं, डाक में छोड़ने के लिए दिया है। दूसरों के पत्र का पता तुम क्यों पढ़ते हो? तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है।"

स्वामीजी से सम्बन्धित एक और घटना मैंने हरि महाराज से सुनी थी। स्वामीजी तथा हरि महाराज तब एक साथ अमेरिका जा रहे थे। हरि महाराज कभी कभी जहाज के अपने केबिन की मेज पर घड़ी को छोड़कर किसी कार्यवश बाहर चले ,जाते थे। स्वामीजी ने दो-एक बार यह देखा। बाद में उन्होंने हरि महाराज से कहा, "हरि भाई, एक निर्धन केबिन-ब्वाय (नौकर) को इस प्रकार चोरी के लिए प्रलोभित करने का तुम्हें क्या अधिकार है? वह गरीब है, घड़ी को देखकर उसके मन में चोरी का लोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है।" यह थी उनकी शिक्षादान की प्रणाली।

स्वच्छता की ओर भी स्वामीजी की विशेष दृष्टि थी। मठ में अस्त-व्यस्तता का भाव वे बिलकुल भी सहन नहीं कर पाते थे। प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर हो, बिस्तर तथा कपड़े साफ हों, इसका वे ध्यान रखते थे। सबको प्रतिदिन सुबह अपना बिस्तर झाड़कर हवा-धूप दिखाना पड़ता था, ताकि वह साफ-सुथरा रहे और उसमें खटमल न पड़ें। इसके लिए किसी किसी के बिस्तर पर वे लेटकर भी परीक्षा कर लेते थे। एक बार स्वामीजी

ने मठ में कोई गन्दी चीज पड़ी देखी। मैं निकट ही था। उन्होंने राखाल महाराज को बुलाकर कहा, "राजा, यह गन्दगी क्यों फैली हुई है? मठ को यदि स्वच्छ न रख सको, तो फिर पेड़ के तले रहना ही अच्छा है। जब मठ बना है, तो इसे ठीक-ठीक साफ-सुथरा रखना होगा।" इस प्रकार वे साधारण सी बात को लेकर भी सफाई की शिक्षा दिया करते थे।

किसी के नाखून में गन्दगी रहे, तो वे उसके हाथ का पानी नहीं पीना चाहते थे। इसी बात को लेकर एक दिन उन्होंने मुझे डाँट पिलायी। उन्होंने कहा था, "देख, यदि तेरे नाखून गन्दे रहे, तो मैं तेरे हाथ का पानी नहीं पीऊँगा।" भीगे हाथों को धोती के छोर से पोंछने पर वे नाराज होते थे। एक बार उनके लिए अनार के दाने निकालने के बाद हाथ धोकर मैं अपनी धोती से पोंछ रहा था। देखकर वे बोल उठे, "उसी धोती में हाथ पोंछकर तू मुझे खाने को देगा? खबरदार, कभी ऐसा न करना।" लघुशंका के लिए जाते समय वे जल ले जाने को कहा करते थे। वे कहते, "अगर तू जल नहीं ले जाएगा, तो ठाकुर नाराज होंगे, अतः लघुशंका के समय जल ले जाना और मुझे भी याद दिला दिया करना।" इस प्रकार ठाकुर का नाम लेकर वे हम लोगों को शिक्षा देते थे। सुना है कि ठाकुर भी इसी तरह की स्वच्छता पसन्द करते थे और अपने शिष्यों को इसकी शिक्षा दे गये हैं। जो चीज जहाँ की है वहीं रखना अर्थात् सलीके का भाव ठाकुर को पसन्द था। हरि महाराज कहते थे, "जिसके भीतर सलीके का भाव है, उसके बाहर भी सलीके का भाव है। जिसके भीतर सुघड़ता का भाव नहीं, उसका बाहर भी सब अस्त-व्यस्त है।"

मठ में प्रविष्ट होनेवाले साधु-ब्रह्मचारियों में साधुत्व का भाव जाग्रत रखने के लिए वे जो शिक्षा देते और अपने गुरुभाइयों से जो कुछ कहते, अब मैं उसी विषय पर आ रहा हूँ। स्वामीजी की इच्छा थी कि मठ में दो प्रकार के साधु रहेंगे – एक होगी नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की टोली और दूसरी संन्यासियों की श्रेणी। नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन निष्ठावान ब्रह्मचारी रहेंगे। वे दाढ़ी-मूछें रखेंगे, अपना भोजन स्वयं पकायेंगे, पठन-पाठन में लगे रहेंगे और खूब निष्ठापूर्वक जीवनयापन करेंगे। और संन्यासियों का दूसरा वर्ग होगा, जो **'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय'**, **'आत्मनो मोक्षार्थ जगद्धिताय च'** – अपनी मुक्ति तथा जगत के हित के लिए जीवन बितायेगा। मठ में रहने को कोई नया ब्रह्मचारी आने पर वे उसे बेलुड़ ग्राम तथा उसके आसपास के स्थानों में भिक्षा लाने भेजा करते थे। भिक्षालब्ध चावल को वह स्वयं पकाकर ठाकुर को भोग देता और बाद में उसे स्वयं प्रसाद रूप में ग्रहण

करता। संन्यासियों को भी वे बीच बीच में माधुकरी का अन्न खाने को कहा करते, ताकि उनमें यह भाव बना रहे कि 'हम साधु हैं'। इस भाव को सुदृढ़ करने के लिए अपने देहत्याग के एक माह पूर्व उन्होंने राखाल महाराज (ब्रह्मानन्द), महापुरुष महाराज (शिवानन्द), शरत महाराज (सारदानन्द) आदि को माधुकरी कर लाने को कहा। उनके भिक्षा कर लाने के बाद स्वामीजी ने भी उसमें से थोड़ा सा अत्यन्त आनन्दपूर्वक ग्रहण किया था। उस समय स्वामीजी ने पूजनीय महापुरुष महाराज से कहा था, "चाहे सहन हो या न हो, माधुकरी-वृत्ति मत छोड़ियेगा।" महापुरुष महाराज की उस समय काशी जाने की बात चल रही थी। अतः उनके मन में 'हम साधु हैं' – यही भाव जाग्रत करना स्वामीजी का उद्देश्य था।

साधु-ब्रह्मचारियों का महिलाओं के साथ मिलना-जुलना उन्हें बिलकुल भी पसन्द नहीं था और वे ऐसा करने से मना करते थे। साधुओं की गृहस्थों को साथ अधिक घनिष्ठता भी वे पसन्द नहीं करते थे, यहाँ तक कि गृहस्थों के साथ एक ही पंगत में बैठकर साधुओं का भोजन करना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था। इसीलिए वे मठ के प्रत्येक साधु को निम्नलिखित श्लोक कण्ठस्थ करने को कहा करते थे –

मेरुसर्षपयोर्यद्वत् सूर्यखद्योतयोरिव ।
सरित्सागरयोर्यद्वत् तथा भिक्षुगृहस्थयोः ।। ☆

गृहस्थों एवं साधुओं के एक ही पंगत में बैठकर भोजन करने के विषय में वे कितने कठोर थे, यह बात निम्नलिखित घटना के द्वारा समझी जा सकती है। उन दिनों मठ में (पुराने) मन्दिर के नीचे के हाल में बैठकर भोजन होता था। भीतर साधुलोग तथा बाहर बरामदे में गृहस्थगण बैठते थे। एक दिन स्वामीजी के गृही शिष्य साँतरागाछी के गोविन्द बाबू भीतर बैठ गये तो स्वामीजी ने उनसे कहा, "तुम साधुओं के साथ क्यों बैठे हो, बाहर जाकर बैठो।" इसके बाद वे भक्त बाहर जाकर बरामदे में बैठे। इस प्रकार वे गृहस्थों के साथ साधुओं का पार्थक्य बनाये रखने का प्रयास करते।

स्वामीजी कामकाज तथा ध्यान-धारणा का समायोजन करने को कहा करते थे। वे कहते, "लगातार अधिक देर तक तुम लोग ध्यान-धारणा नहीं कर सकोगे, अतः बाकी समय कामकाज में लगे रहना। कर्म के द्वारा मन

☆ मेरू पर्वत तथा सरसों के दाने में जितना भेद है, सूर्य तथा जुगनू के प्रकाश में जितना भेद है, समुद्र तथा नदी में जितना भेद है, संन्यासी और गृहस्थ के बीच भी उतना ही भेद है।

शुद्ध होता है। ध्यान-जप या कामकाज छोड़कर बातों में लगे रहना उन्हें बिल्कुल भी नहीं भाता था। अलसता से उन्हें घृणा थी। जब करने को कुछ न होता, तब भी वे कोई न कोई काम निकालकर हमें लगा देते। चुपचाप बैठना या बातें करते रहना उनके सिद्धान्त से मेल नहीं खाता था। स्वामीजी जैसे स्वयं पठन, पाठन या लेखन में लगे रहते, वैसा ही मठ में नियमित रूप से होता रहे, इस विषय में वे प्रोत्साहित करते रहते थे। उनकी जीवनकाल में पठन-पाठन तथा भोजन के बाद चर्चा-कक्षा खूब हुआ करती थी।

सेवा-कार्य के लिए उस समय पूजनीय गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) का अनाथाश्रम तथा काशी का सेवाश्रम - इन दो संस्थाओं की ही स्थापना हो सकी थी। काशी के सेवाश्रम के प्रति उनकी बड़ी सहानुभूति थी और उसके विषय में वे सेवकों को खूब उत्साहित किया करते थे। सेवाश्रम के लिए उन्होंने स्वयं एक अपील भी लिख दी थी। पहले उसका नाम "Home of Relief - Poormen's Relief Association± था"। तब वह गृही भक्तों के संचालन में था। उन्होंने कहा, 'Home of Relief' क्या है रे? क्या कोई किसी को Relief (राहत) दे सकता है? इसका नाम 'Home of Service' (सेवाश्रम) कर दे। इसका सारा भार त्यागियों को सौंप दे। अन्यथा क्या ये कार्य स्थायी हो सकते हैं?" स्वामीजी के देहत्याग के पश्चात् काशी के आश्रम का नाम 'Home of Service' (सेवाश्रम) रखा गया और कर्मियों ने इसके संचालन का भार रामकृष्ण मिशन के हाथों में सौंप दिया। उनके जीवनकाल में ही कलकत्ते के सुप्रसिद्ध रईस कालीकृष्ण ठाकुर ने पूजनीय निरंजनानन्द जी से कहा था, "काशी के अनाथाश्रम के लिए जो भी आवश्यकता होगी, वह मैं दे दूँगा।" यह समाचार पाकर स्वामीजी ने निरजनानन्द को एक पत्र में अन्य बातों के साथ यह भी लिखा था, "कालीकृष्ण ठाकुर यदि काशी के अनाथाश्रम के लिए कुछ करें, तो उन्हें सहस्र शिव-प्रतिष्ठा का फल मिलेगा।"

स्वामीजी स्वयं भी एक दिन जाकर कालीकृष्ण ठाकुर से मिलने का विचार किया था। इस पर गंगाधर महाराज बोले, "एक ही व्यक्ति से हम सब क्यो लेंगे? सब लोग मिलकर दें तभी ठीक होगा।" १९०२ ई० में जब स्वामीजी काशी गये, तो सेवाश्रम का कार्य देखकर उन्होंने खूब आनन्द व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था, "गृहस्थ या ब्रह्मचारी – जितने भी कर्मी है, सबको मेरे पास ले आ। मै सभी को दीक्षा दूँगा। इस प्रकार वहाँ जितने भी कर्मी तथा सेवक थे, उन्होंने सबको दीक्षा प्रदान की।

अपनी द्वितीय अमेरिका-यात्रा से लौटने के उपरान्त उन्होंने काशी

सेवाश्रम के कार्य का विवरण सुनकर अतीव प्रफुल्ल होकर कहा था, "इस प्रकार का सेवाकार्य हर तीर्थस्थान में होना चाहिए।" उनके निर्देशानुसार १९०१ ई० से कनखल में सेवाकार्य आरम्भ हुआ। पूजनीय गंगाधर महाराज द्वारा चालित सेवाकार्य के प्रति भी उनकी खूब सहानुभूति थी। उनकी इच्छा थी कि कलकत्ते में भी सेवाकार्य हो – ऐसा मैंने उन्हीं के मुख से सुना था। इन सब कार्यों को वे खूब प्रोत्साहित करते थे। एक दिन उन्होंने कहा, "छोकरों ने कुछ नहीं किया। खैर, काशी के लड़कों ने मेरे spirit (भाव) के अनुरूप कुछ काम किया है। वे इन सब कार्यों में बुलडाग की-सी दृढ़ता के साथ लगे रहने की बात विशेष रूप से कहते थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "देख, ठाकुर को गंगा के किनारे बैठाऊँगा, यह सोचकर मैं बारह वर्ष पागल के समान घूमा हूँ। तुम लोग किसी कार्य में जुटे नहीं रह सकते, तो भी इस बूढ़े बाबा (स्वामी सच्चिदानन्द) में काम में लगे रहने की क्षमता है।" सेवा के कार्य ठीक ढंग से हो, इस विषय में वे खूब उपदेश देते थे। एक दिन मैं उनके निकट ही खड़ा था कि स्वामीजी ने कल्याणानन्दजी से कहा, "देख कल्याण, जानता है मेरे मन में क्या इच्छा होती है? एक ओर ठाकुर का मन्दिर होगा, साधु-ब्रह्मचारी उसमें ध्यान-जप करेंगे; फिर जो ध्यान-जप किया उसे Practical Field (व्यवहारिक कार्यों) में लगायेंगे। व्यावहारिक वेदान्त ही उनका वास्तविक भाव था – केवल सिद्धान्त नहीं, वेदान्त को रूपायित करना होगा। मात्र विचार या बातें करने से काम नहीं चलेगा।

पठन-पाठन तथा शास्त्रचर्चा की ओर स्वामीजी का अतीव अनुराग था। यह सब वे स्वयं तो करते ही थे, साथ ही अन्य मठवासियों को भी इसमें उत्साहित करते थे। मुझसे उन्होंने कहा था, "और कुछ न भी कर सके, तो गीता पढ़ते रहना।" उनकी इच्छा थी कि मठ में एक पाणिनीय पाठशाला हो। पाणिनीय व्याकरण के महान पण्डित मोक्षदाचरण समाध्यायी मठ के एक विशेष भक्त थे। एक बार वे मठ में आये हुए थे। स्वामीजी ने उसी समय उनसे यह बात कही थी और पाठशाला खोलने के लिए उन्हें खूब उत्साहित किया था।

उनकी यह भी हार्दिक इच्छा थी कि बंगाल में वेदों का प्रचार हो। पठन-पाठन तथा शास्त्रों पर कक्षा लेने के लिए वे सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द) को खूब उत्साहित करते थे। इसका उत्तरदायित्व भी उन्होंने सुधीर महाराज को सौंपा था। स्वामीजी ने उन्हें पण्डित होने का आशीर्वाद दिया था। मैं जब स्वामीजी के पास था, उन दिनों सुधीर महाराज उद्बोधन का कार्य भी किया करते थे। पठन-पाठन की सुविधा के लिए स्वामीजी ने

उन्हें उद्बोधन कार्यालय से लाकर मठ में रखा था। स्वामीजी का पठन-पाठन से इतना लगाव था!

प्रचार के सम्बन्ध में मैंने स्वामीजी से जो कुछ सुना था, वह कहता हूँ। वे 'मण्डली' निकालने की बात कहा करते थे। उनकी इच्छा थी कि ठाकुर की पताका लेकर मठ से साधुओं की मण्डली गाँव गाँव जाकर ठाकुर के भाव का प्रचार करेगी।

ध्यान-जप के विषय में स्वामीजी बड़े कठोर थे। उनके दिनों में प्रातःकाल चार बजे ध्यान का घण्टा बजता था। उनका सेवक प्रत्येक संन्यासी – यहाँ तक कि उनके गुरुभाइयों तक के कान के पास जाकर घण्टा बजाता था। उस समय सबको मन्दिर में जाकर ध्यान करना पड़ता था। वे स्वयं भी आकर बैठते और सबकी उपस्थिति-अनुपस्थिति की खबर रखते। किसी के न आने पर पहली बार वे उसके कमरे के पास जाकर कहते, "ओ संन्यासी बाबुओ! और कितनी देर तक सोओगे?" वे ध्यान-जप के सम्बन्ध में इतने कठोर थे कि मन्दिर में जाकर ध्यान न करने पर अच्छी डाँट पिलाते थे। एक दिन ध्यान के समय बहुत कम लोग उपस्थित थे। नीचे आने के बाद उन्होंने इस पर बड़ा असन्तोष व्यक्त किया और कोठारी को बुलाकर कहा, "लाओ, चाभी मुझे दो। आज किसी को भी खाना नहीं मिलेगा। इन्हें भिक्षा माँगकर खाने दो।" विज्ञान महाराज उस दिन मन्दिर में गये थे, अतः उन्हीं को चाभी सौंपकर स्वामीजी कलकत्ता चले गये। बाद में लौटकर उन्होंने खबर ली कि किसने क्या किया था। उस दिन जो भी मन्दिर नहीं गया था, उसे भिक्षा माँगकर ही उदरपूर्ति करनी पड़ी थी।

इस विषय में वे इतने कठोर थे कि एक दिन उन्होंने मेरे सामने ही पूजनीय महापुरुष महाराज को भी कहा था, "तारक दादा, आप महापुरुष हो गये हैं, तो भी लोकशिक्षा के लिए आपका मन्दिर में जाना उचित है।" तभी से महापुरुष महाराज जब तक शरीर में सामर्थ्य रही मन्दिर में जाकर बैठा करते थे। पुराने साधु इस बात को जानते हैं। सूर्यग्रहण आदि विशेष पर्वों के अवसर पर स्वामीजी जप-ध्यान आदि करने को उत्साहित करते। अपने आन्तिम दिनों में वे स्वयं भी खूब ध्यान-जप आदि किया करते थे। अस्वस्थ होने पर भी नागा नहीं करते। सबको वे दोनों समय ध्यान-जप तथा बाकी समय कामकाज करने को कहते।

जहाँ तक देखा है पूज्यपाद स्वामीजी का गुरुभाव भी मुझे अद्‌भुत प्रतीत हुआ है। इस विषय में संक्षेप में कुछ कहता हूँ। एक दिन वे स्वामी स्वरूपानन्द को कह रहे थे, "देख स्वरूप, यह निश्चित जान लेना कि मैंने

जिसके भी सिर पर हाथ रख दिया है, उसे कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।" एक दिन उनके शिष्य गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) का प्रसंग उठने पर स्वामीजी ने पूजनीय बाबूराम महाराज को कहा था, "मेरे चेले यदि हजार बार भी नरक में जा पड़ें, तो मैं हजार बार उनका हाथ पकड़कर बाहर निकालूँगा। यह बात यदि सत्य न हो, तो ठाकुर आदि सब मिथ्या हैं।"

एक दिन मैंने देखा – पूजनीय बाबूराम महाराज ठाकुर की नित्यपूजा में बैठे हैं। उसी समय स्वामीजी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने बाबूराम महाराज को उठा दिया और स्वयं ही पूजा करने लगे। ठाकुर के चरणों में दो-एक बार अर्घ्य देने के बाद ही, वे अपने सिर पर अर्घ्य देने लगे और तत्काल ध्यानस्थ हो गये। बाद में आसन छोड़कर बाहर आते साय उनके मुखमण्डल पर एक अपूर्व गदगद भाव था। उस समय हम सबने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया था।

एक दिन मैंने सुना कोई किसी से कह रहा था, "देखना, दो सौ वर्ष बाद विवेकानन्द के एक बाल के लिए लोग व्याकुल हो उठेंगे।"

गुरु और संघाध्यक्ष एक हैं – यह बात एक दिन उन्होंने मुझे समझा दी। उस दिन वे मठ में मन्दिर के नीचे गम्भीर होकर बैठे थे और पूज्यपाद राखाल महाराज उनके पीछे खड़े थे। मैं उधर से किनारा काटकर चला जा रहा था। मुझे देखकर स्वामीजी बोले, "इधर आ। जा फूल तोड़ ला।" मैं फूल चुन लाया। बाद में उन्होंने मुझसे कहा, "मेरी पूजा कर – नित्य करना।" फिर बोले, "फूल तोड़ ला।" फूल ले आने पर वे मुझसे बोले, "अध्यक्ष की पूजा कर। गुरु और अध्यक्ष को एक समझना। नित्य पूजा करना।" इस प्रकार तरह-तरह से उन्होंने हम लोगों को शिक्षा दी थी।

एक दिन शास्त्रचर्चा हो रही थी। प्रश्न उठा, "ध्यान-जप बड़ा है, या कामकाज?" इस विषय पर काफी देर तक चर्चा हुई (स्वामीजी मौन साधे रहे)। अन्त में वे बोले, "चाहे जो भी हो, बाबा! एक बार अच्छी तरह कर तो सही, फिर इसकी मीमांसा अपने आप हो जायेगी।" एक दिन स्वामी स्वरूपानन्द ने प्रश्न किया, "आप लोगों ने वराहनगर में कैसा जीवन बिताया? वह अच्छा था या हम जैसा बिता रहे हैं, वह अच्छा है? किसी किसी का कहना है कि वराहनगर के दिन बहुत अच्छे गये हैं।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "उस समय के लिए वराहनगर का जीवन आवश्यक था और अब के लिए इसी प्रकार के जीवन की आवश्यकता है, उस प्रकार रहना अब नहीं चलेगा।"

संन्यास को स्वामीजी बड़ा उच्च स्थान दिया करते थे। संन्यास देते समय

वे कहते, ''ठाकुर के पास अपने को बलिदान करना होगा।'' ध्यान के उपरान्त भाव में वे आते और संन्यास के मंत्र आदि स्वयं ही बोल देते। मंत्रपाठ के साथ शिखा-सूत्र को आहुति में देकर उसका थोड़ा-सा भस्म खाने को कहते। और साथ ही कहते, ''आज से तुझे छत्तीस जातियों का अन्न खाने का अधिकार दिया गया।''

स्वामीजी के साथ मठ में निवास के दौरान एक दिन मैंने उन्हें बताया कि मेरी संन्यास-ग्रहण की हार्दिक इच्छा है। उन्होंने कहा, ''दस घर से भिक्षा माँगकर खा सकेगा?'' मैं बोला, ''आपका आशीर्वाद रहा तो कर सकूँगा।'' सुनकर वे बोले, ''यहीं पड़ा रह, सब हो जायगा।'' स्वामीजी की उस समय मायावती जाने की बात चल रही थी, बाद में वह स्थगित हो गयी। मैंने इसी दौरान एक बार फिर अपनी संन्यास-ग्रहण की इच्छा उनके सामने रखी। उन्होंने संन्यास के लिए बुद्धपूर्णिमा का दिन निश्चित करके स्वामी बोधानन्द को समस्त व्यवस्था का भार दिया। वह रात इतनी उद्विग्नता में बीती कि भोर में उठने की बात थी और नींद खुलने पर मैंने देखा कि चार बजकर दस मिनट हुए है, वस्तुतः दोनों काँटें देखने में गलती हो गई थी, उस समय दो बजकर बीस मिनट ही हुए थे। वह सोचकर कि उठने में देरी हो गई है, मैंने स्वामी निश्चयानन्द को घण्टा बजा देने के लिए कहा। उनके घण्टा बजाने पर स्वामी बोधानन्द मन्दिर की ओर जा रहे थे। उसी समय स्वामीजी ने उठकर शौचालय जाते समय उन्हें देखकर पूछा, ''इतनी रात को मन्दिर में कौन जाता है?'' स्वामी बोधानन्द द्वारा घण्टा बजने की बात कहने पर वे बोले, ''वह बड़ा nervous (घबड़ा) हो गया है।'' कुछ देर बाद स्वामीजी ने मन्दिर में जाकर स्वयं ही सारी व्यवस्था की और विरजाहोम किया। आहुति देने के बाद वे बोले, ''आज से तेरे समस्त सांसारिक कर्मों का नाश हुआ।'' संन्यास के पश्चात् उन्होंने मुझे 'अचलानन्द' नाम दिया। मैं ही उनका अन्तिम संन्यासी शिष्य हूँ।

स्वामीजी ने असख्य लोगों को विविध प्रकार की शिक्षाएँ दी हैं। जिसके द्वारा जितना कराया है, वह उतने से ही धन्य हुआ है। बाद में जो लोग आ रहे हैं, वे उन्हीं भावों को लेकर अपना जीवन गढ़ सकें, तो उनका जीवन धन्य होगा और परमार्थ की भी प्राप्ति होगी।

स्वामीजी की एक और शिक्षा थी -- जो व्यक्ति जगत के कार्य ठीक ठीक कर सकता है, उसी के द्वारा ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि भी सम्भव है।(समाप्त)

स्वामी सारदानन्द महाराज और मैं

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(महाकवि निराला श्रीरामकृष्ण के कई अन्तरंग शिष्यों के सम्पर्क में आये थे, तथा उन्होंने रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी मासिक 'समन्वय' में कुछ काल सहकारी सम्पादक का उत्तरदायित्व भी निभाया था। उसी काल के उनके कुछ महत्वपूर्ण संस्मरण 'सुधा' पत्रिका के नवम्बर, १९३३ अंक में प्रकाशित होकर बाद में उनकी 'चतुरी चमार' नामक पुस्तिका में संकलित हुए। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए प्रस्तुत है उसी का पुनर्मुद्रण। -सं.)

१९२१ ई० में एक साधारण-से विवाद पर विशद महिषादल-राज्य की नौकरी, नामंजूर-इस्तीफे पर भी छोड़कर मैं देहात में अपने घर रहता था। कभी-कभी आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के दर्शनों के लिए जुही, कानपुर जाया करता था। इससे पहले भी, जब १९१९ में हिन्दी और बंगला के व्याकरण पर लिखा हुआ मेरा लेख शुद्ध कर, 'सरस्वती' में छापकर १९२० में उन्होंने साहित्य-सेवा से अवसर ग्रहण किया, दौलतपुर में उनके दर्शन कर चुका था। साहित्य में द्विवेदीजी का गुरुत्व में उन्हीं के गुरुत्व के कारण मानता था (मानता भी हूँ), अपने किसी अर्थ-निष्कर्ष या स्वार्थ-लघुत्व के लिए नहीं। पर इष्ट तो निर्भर भक्त की भक्ति की ओर देखता ही है – द्विवेदीजी भी मेरी स्वतंत्रता से पैदा हुई आर्थिक परतन्त्रता पर विचार करने लगे। आज ही की तरह उन दिनों भी हिन्दी की मसजिदों पर मुरीद द्विवेदीजी की नमाज पढ़ते थे, लिहाजा उनकी कोशिश – मैं किसी अखबार के दफ्तर में जगह पा जाऊँ – कारगर हुई। दो पत्र उन्होंने अपनी आज्ञा से चिह्नित कर गाँव के पते पर मेरे पास भेज दिये, एक काशी के प्रसिद्ध रईस राजनीतिक नेता का था, एक कानपुर ही का। काशीवाले में आने-जाने का खर्च देने के विवरण के साथ योग्यता की जाँच के बाद जगह देने की बात थी, कानपुरवाले में लिखा था – 'इस समय एक जगह २५) रुपये की है, अगर वह चाहें, तो आ जायँ।' मालूम हो कि यह सब उदारता पूज्य द्विवेदीजी अपनी तरफ से स्नेहवश कर रहे थे। अवश्य मेरे पास शिक्षा का जो प्रमाण-पत्र इस समय तक है, उस योग्यता की पूरी-पूरी रक्षा जगह देनेवालों ने की थी, तथापि सिपहगरी के समतल क्षेत्र से सुबेदारी तक के सुस्तर उन्नति-क्रम पर अविचल श्रद्धा न मुझे पहले थी, न अब भी है। फलतः उन पत्रों ही को मेरी अशिक्षा के कारण स्थान-प्राप्ति हुई, मेरी जेब में प्रमाण के तौर पर अपने सुलेखकों के पास वापस जाने का सौभाग्य उन्हें न

मिला। मेरे अन्दर मर्यादा का ज्ञान अत्यन्त प्रबल है, इनकी जानकारी पूज्य द्विवेदीजी को स्वतः उत्तरदायी पद दिलाने की ओर फेरने लगी। पर द्विवेदीजी करते भी क्या, प्रमाण जो न था। जो कुछ भी साहित्य-सेवा की प्रबल प्रेरणा से मैं लिखता था, वह एक ही सप्ताह के अन्दर सम्पादक महोदय की अस्वीकृति के साथ मुझे पुनः प्राप्त हो जाता था। केवल दो लेख और शायद दो कविताएँ तब तक छप पायी थीं, सो भी जब हिन्दी के छन्दों में बड़ी रगड़ की और लेखों में कलम की पूरी ऊँची आवाज में हिन्दी की प्रशंसा।

अस्तु, इन्हीं दिनों स्वामी माधवानन्दजी, प्रेसीडेण्ट, अद्वैत आश्रम (रामकृष्ण मिशन), मायावती, अल्मोड़ा, हिन्दी में एक पत्र निकालने के विचार से पत्रों में विज्ञापन करते हुए सम्पादक की तलाश में द्विवेदीजी के पास जूही आये। उस समय मेरी एक कविता, वह 'परिमल' में 'अध्यात्म-फल' के नाम से छपी है। 'प्रभा' में प्रकाशित हुई थी। उतने ही प्रत्यक्ष आधार पर आचार्य द्विवेदीजी स्वामीजी के पत्र के लिए मेरी योग्यता की सिफारिश कर चले। उनकी तकलीफ आप समझ सकते हैं। स्वामीजी ने मेरा पता नोट कर लिया, और मुझे एक चिट्ठी योग्यता के प्रमाण-पत्र भेजने का आज्ञा देते हुए लिखी। बंगाल में रहकर परमहंस श्रीरामकृष्णदेव तथा स्वामी विवेकानन्दजी के साहित्य से मैं परिचय प्राप्त कर चुका था, दो-एक बार श्रीरामकृष्ण मिशन, बेलुड़, दरिद्र-नारायणों की सेवा के लिए भी जा चुका था, श्रीपरमहंसदेव के शिष्य श्रेष्ठ पूज्यपाद स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज को महिषादल में अपना तुलसीकृत सामायण का सस्वर पाठ सुनाकर उनका अनुपम स्नेह तथा आशीर्वाद प्राप्त कर चुका था, स्वामी माधवानन्दजी को पत्रोत्तर में अपनी इसी योग्यता के हृदय-पुष्ट प्रमाण दिये। स्वामीजी का वह पत्र अँगरेजी में था और मेरा उत्तर बँगला में। कुछ दिनों बाद द्विवेदीजी के दर्शनों के लिए फिर गया तो मालूम हुआ कलकत्ता में एक सुयोग्य साहित्यिक स्वामीजी को सम्पादन के लिए स्वयं प्राप्त हो गये हैं। घर लौटने पर उनका एक पत्र मुझे भी बँगला में लिखा हुआ मिला कि धैर्य धारण करो, प्रभु की इच्छा होगी, तो आगे देखा जायगा।

इसी समय महिषादल-राज्य से मुझे तार मिला कि जल्द चले आओ। मैंने सोचा, जब नामंजूर इस्तीफे पर हठवश चले आने का दोष ही हटा दिया गया, तो अब जाने में दुविधा क्यों करूँ? मैं महिषादल गया। पर राजा,

जोगी, अग्नि, जल की उल्टी रीतिवाली बात याद न रही। यहाँ 'समन्वय' के सार्थक नाम एक सुन्दर पत्र प्रकाशित हुआ। मेरे पास भी वह लेख के तकाजे के साथ गया। मैंने उसमें 'युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण' ऐसा एक लेख लिखा। जब वह प्रकाशित हुआ, तब मैंने द्विवेदीजी की राय माँगी। उन्होंने उस लेख को पढ़कर बधाई दी। मैं मौलिक लेख लिख सकता हूँ, आचार्य द्विवेदीजी के इस आशीर्वाद का सदुपयोग मैं अपने ही भीतर तब से अब तक करता जा रहा हूँ। कई और भी मेरे साहित्यिक पूज्यपादों ने इस लेख की विचारणा और भाषा-शैली के लिए मुझे प्रोत्साहन दिया। 'समन्वय' को एक बड़ी अड़चन पड़ी और यह हिन्दी और बँगला बोलनेवालों में, मेरे विचार से, शायद अभी बहुत दिनों तक रहेगी। इधर मेरे सामने भी राजावाली उल्टी रीति पेश हुई। इसी समय 'समन्वय' के मैनेजर स्वामी आत्मबोधानन्दजी ने मुझे लिखा कि बंगालियों के भावों को समझने के लिए यहाँ ऐसा आदमी चाहिए, जो बँगला जानता हो। हमें अड़चन पड़ती है, तुम चले आओ। मैंने जाकर देखा, 'समन्वय' के आठ ही महीने में दो सम्पादक बदल चुके थे। सम्पादक की जगह नाम स्वामी माधवानन्दजी का छपता था, वह हिन्दी भी बहुत अच्छी जानते थे, काम तथा हिन्दी की विशेषता की रक्षा के लिए 'समन्वय'में एक हिन्दी-भाषा सम्पादक रहता था। इस तरह मैं 'समन्वय' में जाकर स्वामीजी महाराज के साथ, 'उद्बोधन' कार्यालय, बागबाजार में रहने लगा। यहीं पहले-पहल आचार्य स्वामी सारदानन्दजी महाराज के दर्शन किये। यह १९२२ ई. की बात है।

स्वामी सारदानन्दजी इतने स्थूल थे कि उन्हें देखकर डर लगता था। यद्यपि डरवाली बात मेरे पास बहुत पहले से ही कम थी, भूतों से साक्षात्कार करने के लिए रात-रात भर श्मशानों की सैर करता रहा था, और आधी रात को घर से निकलकर पैदल आठ-नौ कोस जमीन चलकर सुबह आचार्य द्विवेदीजी के दर्शन किये थे, फिर भी स्वामी सारदानन्दजी की ओर बहुत दिनों तक मैं देख नहीं सका। पर मैं आँखें झुकाकर, प्रणामकर उनकी सभा में कभी-कभी बैठ जाता था – बातचीत सुनने के लिए। किसी दर्शन या धर्मग्रन्थ का पाठ होने पर उठकर चला आता था, क्योंकि दार्शनिकता की मात्रा यों भी दिमाग में बहुत ज्यादा थी, जी घबरा उठता था। स्वामीजी की वार्तालाप-सभा में महीनों मैंने संयम रक्खा; कुछ बोलकर बेवकूफ न बनूँगा, सिद्धान्त कर लिया था। बाहर के आये हुए विद्वानों को देखता भी था,

अण्ट-सण्ट बकते जा रहे हैं, न सिर, न पूँछ; उनकी आवाज की किरकिराहट अर्थ से पहले अनर्थ व्यंजित करती थी। स्वामीजी मेरी 'यावत्किंचिन्नभाषते' नीति पर प्रसन्न होकर मुस्कराते थे। एक रोज धैर्य जाता रहा। मैंने पूछा, "यह संसार मुझमें है, या मैं इस संसार में हूँ।" उन्होंने बड़े स्नेह से कहा, "इस तरह नहीं।"

हमारे यहाँ की जैसी संस्कृति थी, मैं बचपन से सन्तों की सूक्तियों पर भक्ति विशेष रूप से ईश्वरानुरक्त हो चला था। इसलिए सो जाने पर देवताओं के स्वप्न देखता था। जो देव जाग्रत अवस्था में कभी नहीं बोले, मैं ही बातचीत करता थकता, वे सो जाने पर दम न भरते थे। इसे धर्म-ग्रन्थों में शुभ लक्षण कहा है। पर मेरे लिये यह उत्तरोत्तर अशुभ हो चला। क्योंकि बराबर यह प्रश्न जारी रहा कि मूर्तियाँ जाग्रत अवस्था में क्यों नहीं बोलतीं? रात की अनिद्रा और दिन की उधेड़बुन के शुभ लक्षण सहज ही अनुमेय हैं। क्रमशः दार्शनिकता प्रबल हो चली। धीरे-धीरे देवताओं के कथोपकथन के फलस्वरूप घोर नास्तिक, शंकितचित्त हो गया। जब 'समन्वय' के सम्पादन के लिए गया था, तब यही दशा थी। आस्तिकता पहले से उपार्जित संस्कार या धूप-छाँह की सार्थकता की तरह आती थी। एक दिन मैंने स्वामीजी से कहा, "सो जाने पर मेरे साथ देवता बातचीत करते हैं।" वे सस्नेह हँसकर बोले, "बाबूराम महाराज से भी करते थे।" (स्वामी प्रेमानन्दजी का पहला नाम श्रीबाबूराम था। इनका जिक्र मैं कर चुका हूँ कि श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में पहले इन्हीं के दर्शन मैंने महिषादल में किये थे)। इस प्रसंग के कुछ दिनों में मैं अपने एक बंगाली मित्र के बिस्तरे पर सो रहा था, दुपहर को सोने का मुझे अब भी अभ्यास है, देखता हूँ कि स्वामी सारदानन्दजी महाध्यान में मग्न हैं, ईश्वरीय विभूति से युक्त ऐसी मूर्ति मैंने आज तक नहीं देखी – कमलासन बैठे हुए, ऊर्ध्वबाहु, मुद्रितनेत्र, मुख-मण्डल पर महानन्द की दिव्य ज्योति, जो कुछ है, सब ऊपर उठा जा रहा है, इसी समय उनके सेवक एक संन्यासी महाराज उन्हें खिलाने के लिए रसगुल्ले ले गये, उसी ध्यानावस्थित अवस्था में स्वामीजी ने मेरी ओर इशारा किया। सेवक महाराज ने लौटकर मुझे रसगुल्लों का कटोरा दे दिया। मैं गया और एक रसगुल्ला खिलाकर लौट आया। कटोरा सेवक संन्यासी महाराज को दे दिया।

बस, आँख खुल गयी। मेरा मस्तिष्क हिम-शीकरों-सा स्निग्ध हो गया। उसमें महाज्ञान का कितना बड़ा प्रत्यक्ष प्रमाण मैंने देखा है, मैं क्या कहूँ।

पर मेरी विरोधी शक्ति बराबर प्रबल रही। तीव्र तीक्ष्ण दार्शनिक वज्र-प्रहारों से बराबर मैं मन से उनका अस्तित्व मिटाता रहा – मिटा देता था, तभी काम कर सकता था, पर वह काम – जो घर के लिए, संसार के लिए बन्धनों से मुक्त होनेवाला सामाजिक और साहित्यिक उत्तरदायित्व लिये हुए था। पर आकाश से सीमावकाश में आकर भी मैं आकाश में ही रहता हूँ, ज्यों-ज्यों लड़ता गया – जुदा होता गया, वह भाव प्रबल होता रहा। जीवन्मुक्त महापुरुष क्या हैं, मैं अब और अच्छी तरह समझने लगा। मैं प्रहार करता हुआ जब थक जाता था, तब मेरे मनस्तत्व के सत्य-स्वरूप स्वामी सारदानन्दजी मुझे रंगीन छाया की तरह ढककर हँसते हुए तर कर देते थे। इन महादार्शनिक, महाकवि, स्वयंभू, मनस्वी, चिरब्रह्मचारी, संन्यासी, महापण्डित, सर्वस्वत्यागी, साक्षात् महावीर के समक्ष देवत्व, इन्द्रत्व और मुक्ति भी तुच्छ है। मैंने भी देश तथा प्रदेशों के बड़े-बड़े कवियों, दार्शनिकों, पण्डितों तथा पुरुषों के साथ एक सर्वश्रेष्ठ उपाधि से भूषित किये हुए अनेकानेक लोगों को देखा है, पर वाह रे संसार, सत्य की कितनी खरी जाँच तूने की – महाविद्या और महापुरुष-चरित्रों का कितने पोच मस्तिष्कों में तूने पता लगाया। मैं ब्राह्मण था, किसी मनुष्य को सिर नहीं झुकाया, मेरे चरित्र का पूरा अध्ययन कीजियेगा, चरित्र और ज्ञान, जीवन और परिसमाप्ति में जो 'एजति, न एजति' को सार्थक करनेवाले ब्रह्म थे, उन्होंने अपनी पूर्णता देकर मेरी स्वल्पता ले ली। अब दोनों भाव उन्हीं के हैं, एक से एक लड़ते हैं, दूसरे से बचते हैं – यही मेरा इस समय का जीवन है।

स्वामी सारदानन्दजी के जिन सेवक संन्यासी के हाथ से कटोरा लेकर स्वप्न में मैंने स्वामीजी को रसगुल्ला खिलाया था, उन्होंने मुझसे एक रोज एकाएक कहा, "तुम मन्त्र नहीं लोगे? – जाओ।" मैंने सोचा, 'यहाँ महाप्रसाद की तरह मन्त्र भी बँटता होगा, लेने में हर्ज क्या है?' मुझे बड़े को गुरु मानने में आपत्ति कभी नहीं रही, रहा सिर्फ गुरुडम के खिलाफ, फिर मन्त्र लेने से कुछ मिलता ही है, जहाँ मिलनेवाली रचना हो, वहाँ पैर न बढ़ाये, वह ब्राह्मण का कोई बेवकूफ लड़का ही होगा। मैं सपाटा-चाल सीढ़ी तय करके स्वामीजी के कमरे में पहुँचा और बैठ गया। उन्होंने पूछा, "क्या है?" मैंने कहा, "मन्त्र लेने आया हूँ।" मेरे स्वर में न जाने क्या था। मुझे तन्त्र-मन्त्र पर बिलकुल विश्वास न था। स्वामीजी प्रसन्न गम्भीरता से बोले, "अच्छा, फिर कभी आना।"

मैने मन में कहा, अब इञ्जानिब नहीं जाने के। कई रोज हो गये, नहीं गया। वहाँ कभी-कभी माँ के कमरे में (श्रीपरमहंसदेव की धर्मपत्नी श्रीसारदामणि देवी, तब माँ देह छोड़ चुकी थीं) तुलसीकृत रामायण पढ़ता था। पहले दिन पढ़ी थी, तब स्वामी सारदानन्दजी ने प्रसाद के दो रसगुल्ले दिलाये थे। सबको एक रसगुल्ला मिलता है। केवल शंकर महाराज (स्वामी सारदानन्दजी के बड़े गुरुभाई, श्री रामकृष्ण मिशन के प्रथम प्रेसीडेंट, पूज्यपाद स्वामी ब्रह्मानन्दजी के प्रिय शिष्य) को दो रसगुल्ले पाते हुए बाद को मैंने देखा था, पर उन्होंने एक रसगुल्ला मुझे दे दिया था। एक बार माँ को प्रणाम कर, प्रसाद लेकर मैं स्वामी सारदानन्दजी महाराज के जीने की तरफ से उतरने के लिए जा रहा था, प्रसाद मेरे हाथ में था, मन बड़ा प्रफुल्ल, फूल-सा खिला हुआ, हल्का, गोस्वामी तुलसीदासजी की भारतीय संस्कृति मन को ढके हुए। स्वामीजी आ रहे थे, मुझे भावावेश में देखकर, रास्ता छोड़कर एक तरफ हट गये; मुझे होश था ही, मैं भी हटकर खड़ा हो गया कि यह चले जायँ, तो जाऊँ। स्वामीजी ने पूछा, "यह प्रसाद किसके लिए ले जा रहे हो?" (स्वामीजी से मेरी बँगला में बातचीत होता थी) मैंने कहा, "अपने लिए।" उन्होंने कहा, "अच्छा खाकर आओ।" चटपट प्रसाद खाकर मैं ऊपर गया। स्वामीजी अपने कमरे के सामने उसी रास्ते पर खड़े थे। मुझे देखकर बड़े स्नेह से पूछा, "उस रोज तुम क्या कहनेवाले थे?" मैंने कहा, "मुझे तन्त्र-मन्त्र पर विश्वास नहीं।" उन्होंने पूछा, "तुम गुरुमुख हो?" मैंने कहा, "हाँ, पर तब मैं नौ साल का था!" उन्होंने कहा, "हम लोग तो श्रीरामकृष्ण को ही ईश मानते है।" मैंने कहा, "ऐसा तो मैं भी मानता हूँ।" उत्तर की मैंने कभी देर नहीं की, वह ठीक हो या गलत। पहले क्या कह गया हूँ, फिर क्या कह रहा हूँ, इसकी तरफ ध्यान देनेवाला सच्चा वक्ता, लेखक, कवि या दार्शनिक नहीं – वह कला की मुक्ति में गण्य नहीं, कलाकारों के ऐसे कथन का मैं सजीव उदाहरण था। स्वामीजी के भारतीय कान ऐसे न थे, जो अँगरेजी बाजे के विवादों से भड़ककर उसे संगीत स्वीकार ही न करते। वे भावस्थ गुरुत्व से मेरे सामने आये। मुझे ऐसा जान पड़ा, एक ठण्डी छाँह में मैं डूबता जा रहा हूँ। फिर मेरे गले में अपनी उँगली से एक बीजमन्त्र लिखने लगे। मैंने मन को गले के पास ले जाकर क्या लिख रहे है, पढ़ने की बड़ी चेष्टा की, पर कुछ मेरी समझ में न आया।

परोक्ष रीति से ध्यान-धारणा के लिए स्वामीजी मुझे कभी-कभी याद

दिला देते थे, पर मुझे यह धुन थी कि अब देखना है, गलेवाला मन्त्र क्या गुल खिलाता है। पूजा-पाठ जो कुछ कभी-कभी करता था, वह भी बन्द कर दिया। मुझे कुछ ही दिनों में जान पड़ने लगा, मेरा निचला हिस्सा ऊपर और ऊपरवाला नीचे हो गया है, और रामकृष्ण मिशन के साधु मुझे खींच रहे हैं। अजीब घबराहट हुई। मैंने सोचा इन साधुओं ने मुझ पर वशीकरण किया। तब 'समन्वय' के कार्यकर्ता 'उद्बोधन' छोड़कर 'मतवाला' ऑफिस में (तब 'मतवाला' न निकलता था, बालकृष्ण प्रेस था, मालिक 'मतवाला' के सम्पादक बाबू महादेवप्रसादजी सेठ थे) किराये के कमरों में रहते थे। मैं भी उनके साथ अलग कमरे में रहता था। महादेव बाबू से मैंने कहा, "ये साधु लोग मुझे जादूगर जान पड़ते हैं।" महादेव बाबू गम्भीर होकर बोले, "यह आपका भ्रम है।" मैंने कुछ न कहा, पर मुझे भ्रम होता, तो विश्वास भी होता। एक रोज ऐसा हुआ कि उन्हीं साधुओं में से एक की मेरे पास आकर यही हालत हुई। यह दर्शन-शास्त्र के एम. ए. हैं। आजकल अमेरिका में प्रचार कर रहे हैं, जब खिंचने लगे, तो बोले, "पण्डितजी, क्या आप वशीकरण जानते हैं?" मैंने मन में कहा, "हूँ!" खुलकर बोला, "मैं मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन सबमें सिद्ध हूँ।"

इसके बाद एक दिन स्वप्न देखा – ज्योतिर्मय समुद्र है, श्यामा की बाँह पर मेरा मस्तक, मैं लहरों में हिल रहा हूँ।

फिर इतने चमत्कार इधर दस वर्षों में देखे कि अब बड़े-बड़े कवियों तथा दार्शनिकों कि चमत्कारोक्तियाँ पढ़कर हँसी आती है। वह मन्त्र भी तीन साल हुए, आग-सा चमकता हुआ कुछ दिनों तक सामने आया, उसे मैंने पढ़ लिया है।

धर्म की प्रेरणाशक्ति

चरित्र निर्माण, कल्याण एवं महत् की प्राप्ति और स्वयं तथा विश्व को शान्ति प्रदान करने में धर्म ही सर्वोपरि प्रेरक-शक्ति है।

– स्वामी विवेकानन्द

मानस का रामराज्य

स्वामी आत्मानन्द

गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' में 'रामराज्य का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है और यह बताया है कि वह मात्र एक सैद्धान्तिक कल्पना ही नहीं है, बल्कि वह यथार्थ का सत्य भी हो सकता है, बशर्ते रामराज्य के आधारभूत तत्त्वों को जीवन में उतारने की चेष्टा की जाय। गोस्वामीजी 'मानस' में इस तत्वों के सूत्र संकेत के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। हम उन सूत्रों को पकड़ने की चेष्टा करेंगे।

गोस्वामीजी का प्रथम संकेत यह है कि रामराज्य की स्थापना पहले अयोध्या में नहीं होती, अपितु चित्रकूट में होती है और केवट उसका प्रथम नागरिक होता है। भले ही महाराज दशरथ का संकल्प था कि रामराज्य की स्थापना अयोध्या में हो और उसके लिए उन्होंने श्रीराम के युवराज-पद पर अभिषेक की घोषणा भी कर दी थी, पर उनकी योजना पूरी नहीं हो पायी। इसके कारणों पर विचार करने से रामराज्य का बाधाओं का सम्यक् ज्ञान होता है। दशरथजी ने यह घोषणा तो कर दी कि कल श्रीराम को युवराज-पद पर आसीन किया जायगा, पर क्या उनका आचरण रामराज्य के अनुकूल था? कहाँ उन्हें उस पुनीत कार्य के निमित्त व्रत और संयम की रात्रि व्यतीत करनी चाहिए थी और कहाँ वे अपनी आसक्ति के केन्द्र कैकेयी के पास जाते हैं। जहाँ पर दशरथ का काम हो, कैकेयी का क्रोध और मन्थरा का लोभ, उस अयोध्या में रामराज्य की स्थापना कैसे हो सकती है? रामराज्य का तात्पर्य ही है – काम, क्रोध और लोभ के आवेशों का नियंत्रण। जो व्यक्ति अपने जीवन में ऐसा करने में समर्थ होगा, उसमें रामराज्य का अवतरण होगा। जो समाज अधिकतर ऐसे व्यक्तियों के समुदाय से निर्मित होगा, वह रामराज्य का अधिकारी होगा। इसीलिए हमने कहा कि रामराज्य की प्रथम स्थापना चित्रकूट में होती है और केवट उसका प्रथम नागरिक बनता है। जब श्रीभरत श्रीराम को अयोध्या वापस लौटाने चित्रकूट पहुँचते हैं, तब तक श्रीराम के उदात्त जीवन से वहाँ रामराज्य बन चुका होता है। जब श्रीभरत चित्रकूट के समीप पहुँचते हैं, तो उन्हें सर्वत्र रामराज्य की आभा दृष्टिगत होती है। गोस्वामीजी 'मानस' में लिखते हैं –

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिविध ताप पीड़ित ग्रह मारी।।
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिं भरत गति तेहि अनुहारी।।

रामवास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा।।
सचिब बिरागु बिबेकु नरेसु। बिपिन सुहावन पावन देसू।।
भट जम नियम सैल रजधानी। शांति सुमति सुचि सुंदर रानी।।
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ।।
जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु।। २/२३५

– अर्थात् जब श्रीभरत चित्रकूट के क्षेत्र में पहुँचे, तो उन्हें लगा "अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों, टिड्डियों और तोतों के उत्पात तथा दूसरे राजा की चढ़ाई इन छः उपद्रवों के भय से दुखी हुई तथा तीनों तापों, क्रूर ग्रहों और महामारियों से पीड़ित प्रजा किसी उत्तम देश और उत्तम राज्य में जाकर सुखी हो गयी है। श्रीराम के निवास से वन की सम्पत्ति ऐसी सुशोभित है, मानो अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी हो। सुहावना वन ही पवित्र देश है। विवेक उसका राजा है और वैराग्य मंत्री है। यम यानी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा नियम यानी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान योद्धा हैं। पर्वत राजधानी है, शान्ति तथा सुबुद्धि दो सुन्दर पवित्र रानियाँ हैं। वह श्रेष्ठ राजा राज्य के स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना इन सात अंगों से पूर्ण है और श्रीरामचन्द्र के चरणों के आश्रित रहने से उसके चित्त में चाव है। मोहरूपी राजा को सेना सहित जीतकर विवेकरूपी राजा निष्कण्टक राज्य कर रहा है। उसके नगर में सुख, सम्पत्ति और सुकाल वर्तमान है। बेल, वृक्ष, तृण सब फल और फूलों से युक्त हैं। सारा समाज आनन्द और मंगल का मूल बन रहा है।"

इन शब्दों में गोस्वामीजी ने रामराज्य का चित्रण किया। वे संकेत देते हैं कि अयोध्या में रामराज्य तब बना, जब श्रीभरत अपने चौदह वर्षों की कठोर तपस्या और संयम से वहाँ की काम, क्रोध और लोभमूलक प्रवृत्तियों को दूर करने में सफल हुए। उधर श्रीराम चित्रकूट से अयोध्या लौटना स्वीकार नहीं करते तथा वन को चले जाते हैं और इधर भरत जैसे महान् सन्त चौदह वर्षों तक अपने दिव्य चरित्र के द्वारा ऐसा यज्ञ प्रज्वलित करते हैं कि उसकी अग्नि में अयोध्या का सारा कलुष, सारी वासना दग्ध हो जाती है, समस्त बुराइयों का नाश हो जाता है। और तब श्रीराम का राज्य अयोध्या में स्थापित होता है। श्रीराम चौदह वर्षों तक बाह्य शत्रुओं का नाश करते हैं

और आन्तरिक शत्रुओं का विनाश श्रीभरत करते हैं। इस प्रकार जब बाह्य और आन्तरिक शत्रु विनष्ट हो जाते हैं, तब रामराज्य बनता है। रामराज्य केवल बाहर से नहीं बनता। बाहर और भीतर दोनों से बनता है।' जब तक अयोध्या में मंथरा है और लंका में शूर्पणखा, तब तक रामराज्य नहीं आ सकता। मन्थरा है लोभवादी विचारधारा और शूर्पणखा भोगवादी विचारधारा। जब तक समाज में लोभ और वासना का साम्राज्य है, तब तक रामराज्य नहीं बनेगा। रामराज्य तब बनेगा, जब हममें यज्ञ-कर्म का उदय होगा तथा भरत-चरित्र के रूप में परम त्याग प्रकट होगा। जब अयोध्या में यह भरतरूपी दिव्य आत्मत्याग उपस्थित होता है, तब वहाँ रामराज्य की भूमिका निर्मित होती है और श्रीराम खिंचकर भरत से मिलने के लिए व्यग्र होकर अयोध्या लौट आते हैं।

जब श्रीराम वन से अयोध्या लौट आते हैं, तो गुरु वसिष्ठ कहते हैं कि राघवेन्द्र को राज्याभिषेक के लिए स्नान करा दो। सेवक उन्हें स्नान कराने के लिए प्रवृत्त होते हैं, पर श्रीराम कहते हैं – "मुझे गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य है, मैं स्नान करूँगा, पर **'प्रथम सखान्ह अन्हवावहु जाई'** – पहले मेरे मित्रों को स्नान करवाओ।" उनके प्रिय कौन हैं? – बन्दर ! अर्थात् रामराज्य का श्रीगणेश राजा से नहीं, अपितु सबसे नीचे के व्यक्ति से – बन्दरों से हुआ। रामराज्य का तात्पर्य यह नहीं कि सुख का बँटवारा ऊपर से हो और वह नीचे तक पहुँच ही न पावे, बल्कि यह कि सुख सबसे नीचेवाले व्यक्ति से प्रारम्भ हो और अन्त में सबसे ऊपरवाले के पास पहुँचे। अभिप्राय यह कि जब भी रामराज्य प्रारम्भ होगा, वह वन से, गिरिजनों से होगा और सबसे बाद में नगर के लोग उसके नागरिक बनेंगे। इसीलिए बन्दरों को सबसे पहले स्नान कराया गया।

फिर श्रीराम अपने तीनों भाइयों को अपने हाथ से नहलाते हैं – **'अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई'**। वे अपने हाथ से श्रीभरत की जटाओं को खोलकर सुलझाते हैं – **निज कर राम जटा निरुआरे'**। और जब वे स्वयं स्नान करते हैं, तो और किसी को स्नान नहीं कराने देते, अपितु अपने ही हाथों से अपनी जटा सुलझाते हैं और नहाते है – **'पुनि निज जटा राम बिबराए। गुर अनुसासन मागि नहाए'**। यही रामराज्य का रूप है। राजा स्वयं सत्ता का नहीं, सेवा का प्रेमी है। श्रीराम सोचते हैं कि रामराज्य तो भरत ने बनाया है, अतः पहले उसकी सेवा कर लें। लंका का युद्ध वानरों ने जीता है, अतः सेवा

प्राप्त करने का प्रथम अधिकार उनका है। वे स्वयं किसी की सेवा नहीं लेते, हजारों सेवकों और उत्कृष्ट अनुजों के होते हुए भी वे अपना सारा कार्य स्वयं ही करते है।

स्नानादि से निवृत्त हो वस्त्राभूषण धारणकर बाद में वे अयोध्या के नागरिकों को बुलाते हैं और उनसे कहते हैं –

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई ।।

मुझे वे ही प्रिय हैं, जो मेरे अनुशासन का पालनं करेंगे। श्रीराम के इस कथन में कोई असाधारणता नहीं है, कोई भी प्रशासक यही बात कहेगा। असाधारणता है श्रीराम की अनुशासन की व्याख्या में। उनका अनुशासन क्या है ? वे बतलाते हैं –

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।।

– यदि मुझसे नीति के विरुद्ध कोई कार्य, हो तो आप लोग बिना किसी भय के मुझे रोक दें! यही राजा राम का अनुशासन है और 'मानस' का रामराज्य है, जिसके सम्बन्ध में गोस्वामीजी लिखते हैं –

अल्पमृत्यु नहिं कवनेउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।।

– वहाँ कम उम्र में मृत्यु नहीं होती, किसी को कोई कष्ट नहीं होता, सबका शरीर सुन्दर और निरोग है। न कोई दरिद्र है न दुखी, न कोई दीन है, न मूर्ख, न ही कोई शुभ लक्षणों से रहित है।

ऊपर उठना ही धर्म है

यह धर्म ही है, परे की खोज ही है, जो मनुष्य और पशु में भेद करती है। ठीक ही तो कहा गया है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो सम्भवतः ऊपर की ओर देखता है, अन्य सभी प्राणी स्वभावतः नीचे की ओर देखते हैं। ऊपर की ओर देखना, ऊपर उठना तथा पूर्णता की खोज करना - इसे ही मोक्ष कहते हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

टॉल्स्टाय का विवेकानन्द-अनुशीलन

स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वामी विवेकानन्द की कृतियों के साथ टॉल्स्टाय का प्रथम परिचय १८९६ ई० के सितम्बर में हुआ। इन्हीं दिनों एक भारतीय विद्वान अनेन्द्र कुमार दत्त ने उसी वर्ष न्यूयार्क से प्रकाशित स्वामीजी का 'राजयोग पर व्याख्यान' ग्रन्थ टॉल्स्टाय को उपहारस्वरूप भेजते हुए लिखा –

"आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हमें प्राप्त होनेवाली प्राचीनतम भारतीय दर्शन की चरम उपलब्धियों के साथ आपके सिद्धान्तों का पूर्ण सामंजस्य है।" इसके उत्तर में १३ सितम्बर को टॉल्स्टाय ने सूचित किया – "आपका पत्र और पुस्तक दोनों ही मुझे प्राप्त हुए, इसके लिए आप मेरा विशेष धन्यवाद स्वीकार करें। ग्रन्थ अत्यन्त विलक्षण है और इससे मुझे काफी शिक्षा मिली है। इसमें निरूपित आत्मा का वास्तविक स्वरूप, अर्थात् उस सिद्धान्त का दार्शनिक पक्ष अति सुन्दर है। मानवजाति अब तक जीवन के बारे में सच्चे, उदात्त और स्पष्ट धारणा से बारम्बार पीछे हटती जा रही है, पर वह कभी भी उसके दायरे से बाहर नहीं जा सकी।" अगले दिन उन्होंने अपनी डायरी में लिखा –"इस दौरान मुझे एक हिन्दू का पत्र और भारतीय प्रज्ञा की एक मोहक पुस्तक प्राप्त हुई।"

इसके बाद कई वर्षों तक उन्हें स्वामीजी की अन्य कोई भी पुस्तक पढ़ने को नहीं मिली। इस बीच उन्होंने मैक्समूलर लिखित 'रामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ' ग्रन्थ के कुछ अंश पढ़े और उन्हें 'प्रतिभावान ज्ञानी पुरुष' और उनकी उक्तियों को 'अद्भुत' माना। पर लगता है उस समय उन्हें ज्ञात न था कि विवेकानन्द उन्हीं के शिष्य हैं।

स्वामीजी के अन्याय ग्रन्थों के साथ टॉल्स्टाय का अन्तरंग परिचय लगभग बारह वर्ष बाद अर्थात् १९०८ ई० में हुआ। इस बार विवेकानन्द-वाङ्मय के साथ उनका परिचय एक रूसी लेखक आइ० एफ० नस्जीविन ने कराया। नस्जीविन ने स्वामीजी के दो लेखों 'मेरे गुरुदेव' तथा 'ईश्वर और मानव' एव 'नासदीय सूक्त' कविता का रूसी भाषा में अनुवाद किया था। टॉल्स्टाय ने अपने ७ जुलाई १९०७ के पत्र में नस्जीविन से अनुरोध किया – "उस ब्राह्मण (हिन्दू) की लिखी पुस्तक मुझे भेजें। ऐसी पुस्तकें पढ़ने में

परम आनन्द का बोध होता हो, आत्मा का उन्नयन होता है। १९०८ ई० में नस्जीविन का ग्रन्थ Voices of People (लोकवाणी) प्रकाशित हुआ, जिसमें स्वामीजी का 'ईश्वर और मानव' लेख तथा उपर्युक्त कविता का रूसी अनुवाद भी संकलित हुआ था। इसे प्राप्त होते ही टॉल्स्टाय ने पढ़ा और नस्जीविन के नाम अपने ९ मार्च १९०८ ई० के पत्र में लिखा – "आपकी Voices of People नामक अद्भुत पुस्तक मैंने अभी-अभी पढ़कर समाप्त की है और इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देना चाहता हूँ।" अगले दिन उन्होंने अपनी डायरी में लिखा – "कल मैंने हिन्दू का वह अद्भुत लेख पढ़ा, जिसका नस्जीविन ने रूसी भाषा में अनुवाद किया है। उसमें मेरे अपने विचारों की अस्पष्ट अभिव्यक्ति है।" फिर १२ मार्च को वे पुनः नस्जीविन को लिखते हैं – हिन्दू के उस लेख ने मेरे मन को बड़ा प्रभावित किया है। वह (लेख) असाधारण रूप से अच्छा है।"

अब टॉल्स्टाय ने स्वामीजी के अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त करने और पढ़ने का प्रयास किया। उन्हें यह पता चला कि श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द के बीच क्या सम्बन्ध है। २५ मई १९०८ को उन्होंने डी० पी० मैकोवित्सकी को बताया कि उस दिन उन्होंने विवेकानन्द ग्रन्थावली के दो खण्ड पढ़े, जो कि उन्हें उसी दिन प्राप्त हुए थे और कहा, "उनमें ईश्वर, आत्मा, मानव और धर्मों की एकता विषयक अद्भुत गहन विचार हैं। वे रामकृष्ण के शिष्य हैं, जिनका १९०२ ई० में देहान्त हुआ।"

अब से टॉल्स्टाय स्वामीजी के ग्रन्थों का गम्भीर और सोत्साह अध्ययन करने लगे। वे पुस्तकों पर उसके महत्वपूर्ण अंशों को रेखांकित करते और जो अंश उन्हें विशेष प्रभावित करते उन्हें अपनी नोटबुक में लिख लेते। टॉल्स्टाय १९०८ के जून में विवेकानन्द साहित्य के अध्ययन डूबे हूए थे। इस काल का किंचित् विवरण हम उनकी तथा मैकोवित्स्की की डायरी से उद्धृत करेंगे।

५ जून के दिन उन्होंने मैकोवित्सकी से कहा – "सुबह छह बजे से ही मैं विवेकानन्द के बारे में सोच रहा हूँ। कल दिन भर विवेकानन्द के ग्रन्थ पढ़ता रहा। उनमें बुराई का प्रतिरोध करने हेतु हिंसा का सहारा लेने के औचित्य पर एक अध्याय है। बड़ी ही प्रतिभापूर्वक लिखा गया है।"

२१जून को वे वी० जी० चेरट्कोव के साथ स्वामीजी के 'कृष्ण' विषयक प्रबन्ध पर चर्चा करते रहे। टॉल्स्टाय ने कहा – "कृष्ण कभी-कभी बुराई के बदले भलाई करने का आदेश देते है और कभी कभी बुराई करनेवाले का वध करके, उसे पुनर्जीवन देकर, जीवन के आनन्द की अनुभूति कराते हैं।"

२६जून को मैकोवित्स्की लिखते हैं – "स्वामी विवेकानन्द ग्रंथावली के तीन खण्डों में से एक हाथ में लिए हुए कल टॉल्स्टाय हाल में आये। टॉलस्टाय ने कहा, 'उत्तम ग्रन्थ है! बारम्बार पढ़ने योग्य इसमें कितने ही विचार हैं।' और बाद में, जब मैं उनका सिर सहला रहा था, वे विवेकानन्द का ग्रन्थ पढ़ते रहे और उसके कुछ वाक्यों को रेखांकित किया।" उस दिन टॉल्स्टाय ने अपनी डायरी में लिखा - "आज प्रथम बार विवेकानन्द के उस कथन की सत्यता की सम्भावना का बोध हुआ कि 'मैं' को पूर्णरूप से 'तुम' में विलीन किया जा सकता है; यह भी बोध हुआ कि आत्मत्याग किसी विशेष उद्देश्य से नहीं, अपितु सत्य के ज्ञान के द्वारा करना होगा। अपने स्वयं और अपने 'अहं' भाव के प्रति भयंकर आसक्ति से बच निकलना परम कठिन और परम आवश्यक है। और मुझे अब अपनी मृत्यु के पूर्व, अपने 'अहं'त्याग की सम्भावना का बोध होने लगा है। वह (अहं) कोई सद्गुण नहीं है।"

४जुलाई १९०८ को टॉल्स्टाय ने अपनी डायरी में लिखा – "ईश्वर विषयक विवेकानन्द का लेख पढ़ा–अति उत्तम है। इसका अनुवाद होना चाहिए। वह विषय मेरे मन में भी उदित हुआ था।"

१६अगस्त को उन्होंने अपना 'धर्म और विज्ञान' लेख पूरा किया जिसमें उन्होंने विश्व के अन्य ऋषियों एवं विचारकों के साथ ही महान स्वामीजी की विरासत को भी आत्मसात करने का अनुरोध किया है।

१६फरवरी १९०९ के दिन टॉल्स्टाय को स्वामीजी की ग्रन्थावली का एक अन्य खण्ड प्राप्त हुआ, जो एक भारतवासी ने उन्हें उपहार के रूप में भेजा था। मैकोवित्स्की ने लिखा है कि टॉल्स्टाय ने इसे पढ़ा और पहले के अन्य खण्डों की भाँति ही खूब पसन्द किया। टॉल्स्टाय को प्राप्त होनेवाली स्वामीजी की यही अन्तिम पुस्तक थी।

७ मई को उन्होंने अपने प्रकाशक पोस्रेदनिक पब्लिशिंग हाउस के सम्पादक से कहा – "आधुनिक भारतीय विचारकों में सर्वप्रमुख है विवेकानन्द और उनके ग्रन्थों का (रूसी भाषा में) प्रकाशन होना चाहिए।" इसके कुछ ही दिन पूर्व टॉल्स्टाय ने अपने 'शिक्षा' विषयक निबन्ध में सुकरात, रूसो और काण्ट आदि विश्व के प्रमुख विचारकों के साथ स्वामीजी का भी उल्लेख किया है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के रूसी दार्शनिक रचनाओं के सुप्रसिद्ध संकलन 'वेखी' के बारे में टिप्पणी करते हुए उन्होंने २४ जून को लिखा - "जब पढ़ने के लिए रामकृष्ण, बुद्ध, विवेकानन्द, बाइबिल जैसी चीजें उपलब्ध हैं, तो 'वेखी' पढ़ना बेकार है।"

१९१० टॉल्स्टाय के जीवन का अन्तिम वर्ष था। और उस वर्ष भी वे विवेकानन्द के ग्रन्थों का अनुशीलन और प्रशंसा करते रहे। २९ मार्च को चेकोस्लोवाकिया के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी और विचारक जॉन मशरिक जब टॉल्स्टाय से मिले, तो उन्होंने पूछा कि क्या आप भारतीय दर्शन का अध्ययन कर रहे हैं। इस पर टॉल्स्टाय ने बताया कि आधुनिक भारत के श्रेष्ठतम दार्शनिक विवेकानन्द हैं।

टॉल्स्टाय की बड़ी इच्छा थी कि स्वामीजी के ग्रन्थों का रूसी भाषा में अनुवाद और प्रकाशन हो। उन्होंने इस दिशा में थोड़ा बहुत कार्य किया भी था। उनके देहावसान के पश्चात् नरुजीविन तथा उनके अन्य अनुयायियों ने 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' मैक्समूलर की 'श्रीरामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ' तथा स्वामीजी के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद और प्रकाशन की व्यवस्था की।

अन्धविश्वास और धर्म

बिना सोचे-विचारे विश्वास करना तो आत्मा का पतन है। तुम नास्तिक भले ही हो जाओ, परन्तु बिना सोचे-विचारे किसी चीज में विश्वास न करो। तनकर खड़े हो जाओ, अन्धविश्वास छोड़कर तर्क करो। धर्म विश्वास की वस्तु नहीं, बल्कि होने व बनने की वस्तु है। यही धर्म है और यदि तुम इसका अनुभव कर लोगे तभी धार्मिक कहे जाओगे। इसके पहले तुम पशुओं से भिन्न नहीं हो।

– स्वामी विवेकानन्द

मनुष्य का सच्चा स्वरूप

स्वामी रामकृष्णानन्द

(इस लेख में बताया है कि किस प्रकार मनुष्य इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के अतीत अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप को जानकर संसार-सागर से पार हो सकता है। 'The message of our master' नामक पुस्तक से 'विवेक-ज्योति' के लिए इसका अनुवाद श्री सन्तोष कुमार त्रिपाठी ने किया है। – सं०)

इस जगत् में प्रत्येक वस्तु की अपनी निजी विशेषताएँ होती हैं, जो उसे दूसरों से अलग कर, उसे एक अलग व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। व्यक्तित्व प्रदान करनेवाली इन विशेषताओं को उसका स्वभाव कहते हैं। अतः यदि कोई एक वस्तु के स्वभाव को जानता है तो वह उसे पूरी तरह से जान लेता है। किसी वस्तु के बारे में यह ज्ञान उसका यथार्थ ज्ञान कहलाता है। अत: किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान पाने के लिए उसके स्वरूप को जानना आवश्यक है। यह स्वरूप आकर्षण एवं विकर्षण के रूप में व्यक्त होता है। यह कुछ चीजें प्राप्त करना चाहता है और कुछ निश्चित दूसरों को दूर रखता है। या ऐसे कहें कि कुछ के साथ यह नित्य प्रेम में बँधा है और कुछ दूसरों के प्रति नित्य घृणा का पोषण करता है।

सभी वस्तुओं को दो वर्गों में बाँटा गया है – सजीव और निर्जीव। यहाँ तक कि वस्तुओं में भी हम इन्हीं आकर्षण तथा विकर्षण की शक्तियाँ देख पाते हैं। उदाहरण के लिए अँधेरा अँधेरे से ही समायोज्य है, न कि प्रकाश से। इस प्रकार समान गुणवाली वस्तुएँ ही मिश्रित होती हैं, न कि विपरीत गुणोंवाली। जलीय वस्तुएँ तैलीय पदार्थों में नहीं मिलायी जा सकतीं, क्योकिं उनका स्वरूप भिन्न है। जलीय पदार्थ जलीय पदार्थों के साथ ही मिश्रित होते हैं, और तैलीय पदार्थ, तैलीय पदार्थों के साथ। यहाँ तक कि वनस्पति वर्ग में भी यही आकर्षण एवं विकर्षण की शक्तियाँ दीख पड़ती हैं। वायु, प्रकाश तथा जल पसन्द किये जाते हैं और जलाभाव, अति उष्णता तथा अँधेरा अरुचिकर लगता है। एक लता जल, प्रकाश व हवा पर अपना निर्वाह करती है और उसी दिशा में बढ़ने को प्रवृत्त होती है, जिस ओर उसे सूर्य का प्रकाश मिल सके; हम चाहे जितना भी उसे छाँव की तरफ घुमाने का प्रयास क्यों न करें, सफल नहीं होंगे। यदि हम उसे छाँव में रखें, तो अगले दिन ही उसे प्रकाश की दिशा की ओर उन्मुख पायेंगे। सूर्य के प्रकाश से प्रेम करना और छाया या अँधेरे से विमुख होना – यही उसका स्वभाव है। इस प्रकार नि:सन्देह निष्क्रिय पदार्थ तथा वनस्पति वर्ग दोनों ही आकर्षण तथा विकर्षण द्वारा परिचालित होते हैं। कहना न होगा, कि प्राणि-जगत भी इन्हीं आकर्षण व विकर्षण – प्रेम व घृणा की दो शक्तियों द्वारा परिचालित होता है। गायें व

अन्य शाकाहारी जन्तु हरी घास, लतायें व पत्तियाँ खाते हैं, जबकि बाघ आदि मांसाहारी जन्तु उन्हें पसन्द नहीं करते। हर प्राणी इस रुचि-अरुचि द्वारा ही परिचालित होता है और हमें इन्हीं के आधार पर उनके स्वरूप का निर्धारण करना होगा।

यद्यपि, हम प्रेम व घृणा के रूप में दो शक्तियाँ देखते हैं, तथापि वस्तुतः वे प्रेम नामक एक ही शक्ति के दो पहलू हैं। चूँकि हम प्रकाश से प्रेम करते हैं, अतः उसके विपरीत अन्धकार से घृणा भी करते हैं। इस प्रकार प्रेम के कारण ही घृणा का भी अस्तित्व होने से, हम कह सकते हैं कि घृणा भी प्रेम का ही एक अन्य रूप है। प्रेम आकर्षित करता है और द्वेष विकर्षित करता है; प्रेम मानो सकारात्मक है और घृणा नकारात्मक; दूसरे शब्दों में – प्रेम सत्य है और घृणा असत्य। इस प्रकार प्रेम ही प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। अपने स्वभाव के अनुरूप वस्तु की हमें चाह होती है और उसके प्रतिकूल वस्तु से हम घृणा करते हैं, वह हमारे स्वरूप के प्रतिकूल है। मछलियाँ पानी में रहना चाहती हैं, अतः यही उनका स्वभाव है ओर जलविहीन जीवन की वे कल्पना ही नहीं कर सकती, क्योंकि यह उनके स्वभाव के प्रतिकूल है।

इसी प्रकार यदि हम मानवीय स्वभाव की भी परीक्षा करें, तो पायेंगे कि वह भी प्रेम और घृणा से ही मिलकर बना है। ऐसा कौन है जो सुख से प्रेम और दुःख से घृणा न करता हो? उसी प्रकार हर व्यक्ति जीवन से प्रेम और मृत्यु से भय पाते दिखाई देता है। फिर एक बुद्धिमान आदमी हमेशा ज्ञान का भूखा रहता है। वह अज्ञान से वैसे ही द्वेष करता है, जैसे कि सूर्य अँधेरे से। ज्ञान में रुचि तथा अज्ञान से अरुचि – यही उसका स्वभाव है। उसकी इन रुचियों से हम सहज ही जान पाते हैं कि दुःख नहीं बल्कि सुख ही उसका स्वभाव है; मृत्यु नहीं अपितु जीवन ही उसका स्वभाव है; और इसी प्रकार अज्ञान नहीं वरन् ज्ञान ही उसका स्वभाव है। सुख ही आनन्द है, जीवन ही अस्तित्व है और ज्ञान ही चेतना है। अतः ऋषिगण इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पूर्ण सत्-चित्-आनन्द ही मनुष्य का यथार्थ स्वरूप है।

यदि मनुष्य पूर्ण सत्-चित्-आनन्द है तो इससे भी सिद्ध होता है कि जो परिवर्तन या विनाश को प्राप्त होता है वह मनुष्य का स्वरूप नहीं है। सदेह व्यक्तित्व जन्म-मृत्यु के अधीन है, अतः यह वास्तविक मनुष्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'वह' जो कर्म करता है, सोचता है; वह जो कर्ता और ज्ञाता है – वास्तविक मनुष्य नहीं हो सकता – क्योंकि प्रगाढ़ निद्रा में उसका अस्तित्व नहीं रहता; क्योंकि सत्-स्वरूप वस्तु कभी विनष्ट या अस्तित्वहीन नहीं किया जा सकता। इसीलिए ऋषिगण कहते हैं कि यथार्थ मनुष्य

पंचकोशों के परे हैं। पंचकोशों से सीमित व्यक्तित्व मनुष्य का प्रातिभासिक स्वरूप मात्र है। यथार्थ मनुष्य पंचकोशों द्वारा सीमित न होने के कारण अनन्त, सर्वव्यापी तथा महत से भी महत्तर है। यही ऋषियों का निष्कर्ष है।

यद्यपि वास्तविक मनुष्य सच्चिदानन्द स्वरूप है, तथापि लोग स्वयं को नाम-रूपधारी, उपाधियुक्त, मृत्यु के अधीन समझते हैं और वे अपने बारे में इसी धारणा से सन्तुष्ट रहते हैं। वे नित्य, अखण्डमय तथा आनन्द नहीं प्रतीत होते हैं। पात्रों तथा दूसरी वस्तुओं के समान वे भी नश्वर, परिस्थितिओं के अधीन, सुख-दुःख के द्वारा डाँवाडोल, सदा उत्कण्ठित – संक्षेप में कहें तो दया के पात्र है। उनकी सारी शक्तियाँ खाने-पीने तथा सोने में खर्च होती हैं। और वे सदा भय के दास बने रहते हैं। यदि उनमें से कोई किसी अन्य प्रकार से जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे वह अपनी पत्नी, सन्तानों सम्बन्धियों तथा मित्रों का दृष्टिकोण देखकर तुरन्त छोड़ देता होगा। अतः इन पूर्णरूप से खाने-पीने में ही मस्त लोगों के द्वारा अनादिकाल से यह संसार निरन्तर ऐसे ही चला आ रहा है। काफी अन्तराल के बाद कभी-कभार केवल कुछ थोड़े-से व्यक्ति संसार की लहरों के बीच से सिर उठाकर उच्च वाणी में घोषणा करते है, "निरे पशुओं के समान जीवन बिताना मानव जीवन का उद्देश्य नहीं है। अपने सच्चे स्वरूप को जानो एवं स्वयं को दुःख के सागर से मुक्त करो।"

इसे सुनकर कुछ लोगों की निद्रा टूटती है और ऐसे प्रज्ञावान पुरुषों के महिमामय मुखमण्डल को देखकर और उनकी सहजबोध वाणी को सुनकर वे लोग स्वयं में एक नये जीवन तथा शक्ति का अनुभव करते हैं। वे लोग भी स्वयं को दुःखमय जगत् से ऊपर उठाते हैं और इन महात्माओं की वाणी के अनुसार अनुभव करते हैं कि उन्हें इस बन्धन से मुक्ति देने में समर्थ एकमात्र वस्तु उनके सम्मुख ही प्रकाशमान है; इसी की खोज में वे इस असार संसार में अब तक कष्ट उठा रहे थे, और वह वस्तु इस भय-दुःखमय इन्द्रियगम्य संसार से परे विद्यमान है। इस प्रकार सत्य को जानकर वे भी धन्य हो जाते हैं। कभी-कभी इस दुखमय जगत् के लोग किसी ज्ञानालोकित महापुरुष की सहायता से इसके पार चले जाते हैं। इन दुःखी प्राणयों की मुक्ति के लिए कभी-कभी ऐसे महापुरुष आते रहते हैं। दूसरों के कष्ट से संवेदना रखनेवाले ऐसे महापुरुषों के यदा-कदा इस जगत् में आने के कारण ही इन तप्त-जीवों के कष्टों की इतिश्री हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो अज्ञान का अन्धकार इस जगत् से कभी दूर नहीं हो पाता और यह एक चिरन्तन नरक बना रहता।

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(मूल बँगला पत्रों से संकलित तथा अनुदित)

–५३–

आपने शान्ति मिलने के बारे में लिखा है। आप तो जानते ही हैं कि पूर्ण शान्ति उसी को प्राप्त होती है जो –

> **विहाय कामान् यः सर्वान् पुमान् चरति निःस्पृहः।**
> **निर्ममो निरंहकारः . . . ।।** [1]

तथा –

> **आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।**
> **तद्वत्कामाः यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।** [2]

तथापि भले ही पूर्ण शान्ति न हो, पर आंशिक शान्ति आपको अवश्य ही प्राप्त है। प्रभु की कृपा से आप जितना ही उन्हें अपने हृदय में लाकर, 'मैं' 'मेरा' भाव दूर कर सकेंगे, उतना ही शान्ति के अधिकारी होंगे, अन्यथा नहीं। वे ही सब कुछ कर रहे हैं, हम लोग तो उनके हाथ की कठपुतली मात्र हैं – यह भाव उनकी कृपा से जितना ही अधिक दृढ़ होगा, उतना ही 'मैं' और 'मेरा' बोध तिरोहित होता जाएगा। हृदय विश्राम तथा शान्ति के उदय से शीतल हो जाएगा।

'पंचदशी' ज्ञानप्रधान ग्रन्थ है, इसलिए उसमें निर्गुण साधन का विधान किया गया है। परन्तु गीता में भगवान कहते हैं –

> **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।**
> **निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।** [3]

कितना सरस! कितना सुखमय! कितना मधुर!! फिर आपने पूछा है कि

---

१. जो व्यक्ति समस्त कामनाओं को त्यागकर, 'मैं' और 'मेरा' भाव से रहित होकर निःस्पृह भाव से विचरण करता है। (गीता २/७१)

२. परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में जैसे सभी नदियों का जल समा जाता है, वैसे ही जिसके मन में समस्त कामनाएँ लय हो जाती हैं, वही शान्तिलाभ करता है, न कि भोगों की कामना करनेवाला। (गीता २/७०)

३. मेरे में ही मन को लगा, मुझमें ही बुद्धि को स्थापित कर। ऐसा करके देहत्याग के बाद तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। (गीता १२/८)

संसारी व्यक्ति को समाधि होती है क्या? सो यदि न हो तो भगवान की यह वाणी कैसे सत्य मानेंगे? –

> **अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
> **साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।** [४]
> **मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।**
> **स्त्रियो वैश्यस्तथा शूद्रस्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।** [५]

परागति समाधि के बिना हो सकती है क्या? योगांगों का अभ्यास किए बिना भी समाधि होती है। पातंजल योगसूत्र में **समाधिरीश्वरप्रणिधानात्** [६] सूत्र के द्वारा यही बात कही गयी है। फिर **ईश्वरप्रणिधानाद्वा** [७] सूत्र में भी यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। भाष्यकार व्यासदेव उसी सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते है – **प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यान मात्रेण। तदभिध्यान मात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति।** [८] अतः योगांगों का अभ्यास किए बिना भी समाधि हो सकती है, इस विषय में यही विशेष प्रमाण है। इस प्रसंग में भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित किसी गोपी के त्रिगुणमय देहत्याग के द्वारा भगवद्भक्ति प्राप्ति की बात स्मरणीय है –

> **कामं क्रोधं भयं स्नेहं ऐक्यं सौहृदमेव वा।**
> **नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।।** [९]

तन्मयता-लाभ समाधि से कोई अलग चीज है क्या? तात्पर्य यह कि भाव तथा उपाय में भिन्नता है, नहीं तो वस्तुलाभ तथा फल तो एक ही हैं –

---

४. यदि कोई अत्यन्त दुराचारी भी अनन्यभाव से निन्त मेरा भजन करता है तो वह सम्यक् निश्चयवाला साधु ही मानने योग्य है। (गीता ९/३०)

५. हे पार्थ, जो लोग मेरा आश्रय लेते हैं, वे चाहे महा पापयोनि में उत्पन्न हों; स्त्री, वैश्य या शुद्र हों, निश्चय ही उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। (गीता ९/३२)

६. ईश्वरप्रणिधान अर्थात ईश्वर को समस्त अर्पण करने से समाधिलाभ होता है। (पातंजल योगसूत्र, साधनपाद, ४५)

७. अथवा ईश्वर के प्रति भक्ति से भी (समाधि होती है)। (वही, समाधिपाद, २३)

८. ईश्वरप्रणिधान अर्थात भक्ति से प्रसन्न होकर ईश्वर अपनी इच्छामात्र से ही उन पर अनुक्रह करते है। उनकी इच्छामात्र से योगी को समाधि तथा उसका फल अतिशीघ्र प्राप्त होता है।

९. काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्द – किसी भी उपाय से हरि के साथ सम्बन्ध और भक्ति का प्रयोग करने से, वह तन्मयता को प्राप्त होता है। (श्रीमद्भागवत १०/२९/१५)

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ [१०]

बारहवें अध्याय में भी भगवान सगुण-निर्गुण उपासना का सर्वोच्च सिद्धान्त वर्णन करने के बाद, स्पष्ट शब्दों में निर्देश करते हैं कि सगुण उपासना ही सहज एवं सुखकर है और यह भी कि वे भक्तों का स्वयं ही उद्धार करते हैं। अतः हम ऐसे दयालु प्रभु को छोड़कर अन्य किसी की क्यों शरण लेंगे, यह मेरी समझ में नहीं आता।

– ५४ –

अच्छा चला रहे हो – ऐसे ही चलाते जाओ। "संगी मिला, न मिला। अकेले ही करो मेला" – स्वामीजी की इस बात को पकड़े रहना। और किसकी बाट जोहोगे? ठाकुर कहा करते थे – "मै हूँ और मेरी माँ हैं।" बस और क्या चाहिए। लगे रहना ही कर्तव्य है। लगे रहने पर क्रमशः सारी सुविधाएँ हो जाती हैं। ठाकुर को लेकर पड़े रहो, देखोगे क्या से क्या हो जाता है। ठाकुर कहा करते थे – "मिट्टी का सीताफल देखकर असली सीताफल की याद आती है।" इसी प्रकार उनका चित्र उन्हीं की याद दिलाता है। उनके फोटोग्राफ में उन्हें प्रत्यक्ष मानकर उनकी सेवा, पूजा इत्यादि किए जाओ – देखोगे कि सचमुच ही तुम उनके भाव में अनुप्राणित होते जा रहे हो। मन को दृढ़ करके लग जाओ तो जानूँ। जिसकी जिधर भी जाने की इच्छा हो, चला जाय, परन्तु तुम अपने ठाकुर को लेकर स्थिरतापूर्वक पड़े रहो। उन्हीं में मन-प्राण लय कर डालो। वृथा घूम-फिरकर क्या करोगे? दिन बीते जा रहे हैं और वे फिर लौटने के नहीं। असल काम में भूल न हो। उन्हें अपना बना लो। फिर सब कुछ अपने आप ही हो जाएगा। उनका साधन-भजन करने को जो भी आएगा, जो कोई भी हमारे ठाकुर का शरणागत होगा, उसी को अपने पास रखना। भिक्षा करके खाना, इसमें हानि ही क्या है? अतुल ने ठीक लिखा है कि पहले तो मकान के लिए इतना कष्ट था, अब मकान हो गया तो रहने को लोग नहीं! पर फिर ऐसा भी हो सकता है कि इतने लोग हों कि अँटना मुश्किल हो जाय। सभी चीजों में हमें विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। बहुत धैर्य की आवश्यकता है। थोड़े दिनों तक धीरज रख पाने से ही सब कुछ

---

१०. ज्ञानयोगियों को जिस पद की उपलब्धि होती है, कर्मयोग द्वारा उसी पद को प्राप्त किया जाता है। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग को एक देखता है, वही ठीक-ठीक देखता है। गीता ५/८

अनुकूल हो जाता है। धैर्य के अभाव में ही मनुष्य कुछ भी नहीं कर पाता, अन्यथा दूसरा कोई भी कारण नहीं । धैर्य रहने पर सिद्धि अवश्य ही प्राप्त होगी।

– ५५ –

स्वास्थ्य ठीक रहने पर साधन-भजन, स्मरण-मनन बहुत आसानी से होता है। अतः **शरीमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**[११] – इस बात का खूब अनुभव होता है। आजकल प्रभु तुमसे खूब अच्छी तह स्मरण-मनन करवा रहे हैं, इस संवाद से मैं परम सन्तोष का अनुभव कर रहा हूँ। उनका चिन्तन छोड़कर और चाहिए ही क्या? सब तो यहीं का यहीं धरा रह जाएगा। उन्हें अपना लेने से इहलोक तथा परलोक दोनों सफल हो जाएँगे, क्योंकि उनके साथ नित्य का सम्बन्ध है – सिर्फ दस या बीस वर्ष के लिए नहीं।

जो लोग भगवान की शरण लेकर रहते हैं, तुमने उनके लक्षण आदि जानने की इच्छा प्रगट की है। यह अति उत्तम बात है। परन्तु लक्षण जानने की अपेक्षा शरणागत होना ही असल बात है। ऐसा होने पर लक्षण अपने आप प्रगट होंगे। तथापि लक्षण जानने की इच्छा बुरी नहीं है। सामान्यतः दो प्रकार के लक्षण होते हैं – पहला है स्वसंवेद्य और दूसरा परसंवेद्य। स्वसंवेद्य अर्थात जो स्वयं ही भीतर से जाना जा सके, यही सर्वोत्तम है और परसंवेद्य अर्थात दूसरों से ज्ञात। दूसरे लोग बाहर से देखकर समझ जाते हैं कि इस व्यक्ति को ज्ञान हुआ है। पर इस परसंवेद्य में भूल होने की सम्भावना है, क्योंकि बाह्य लक्षण सत्य नहीं भी हो सकते हैं, ज्ञान न होने पर भी वे दिख सकते हैं। परन्तु जो स्वयं का अनुभवसिद्ध है, उसमें भूल होने की सम्भावना नहीं है, अतः वही प्रकृत है। पेट भरा है या नहीं यह स्वयं को जैसा समझ में आता है, वैसा दूसरे लोग नहीं समझ सकते। मान लो चेहरे पर क्रोध के लक्षण देखकर बाहर के लोग सोचें कि उसे क्रोध हुआ है, यह हुआ परसंवेद्य। परन्तु इसमें भूल होने की भी सम्भावना है, क्योंकि क्रोध के बिना भी क्रोध के लक्षण प्रगट होना असम्भव नहीं है। किसी अन्य कारण से भी ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं । सिर्फ दिखावे के लिए भी मनुष्य वैसा भाव प्रकट कर सकता है, परन्तु यथार्थ रूप से क्रोध हुआ है या नहीं, इस बात को क्रोध करनेवाला ही

---

११ स्वस्थ शरीर धर्म-साधना की प्रथम आवश्यकता है । (कुमार सम्भव ५/३३)

ठीक ठीक जानता है। उसके लिये यह स्वसंवेद्य है। अतः वह उन लक्षणों को प्रगट नहीं भी कर सकता है। इसलिए स्वसंवेद्य लक्षण ही यथार्थ और भूलरहित हैं। जो भी हो, तुमने जो सब लक्षण लिखे हैं, वे काफी सुन्दर हैं। उनकी शरण लेने पर अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती। तब भीतर से निर्भयता का भाव प्रकट होता है, क्योंकि उनकी कृपा से इस बात की अनुभूति होती है कि वे सर्वदा रक्षा कर रहे हैं। हृदय से असद्-विचार चले जाते हैं; सदा सद्भाव का ही स्फुरण होता रहता हैं, अन्तर शान्तिपूर्ण हो जाता है – यह सब स्वसंवेद्य है। दूसरे लोग देखते हैं कि ये निश्चिन्त और शान्त हैं, सभी के प्रति प्रेमपूर्ण तथा सर्वदा सन्तुष्ट हैं इत्यादि – यही परसंवेद्य लक्षण है। अन्य लक्षण भी हैं।

– ५६ –

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः[१२] – इस देह में ही उनकी प्राप्ति कर लेने में कल्याण हैं अन्यथा महान् अनर्थ है, इसमें सन्देह नहीं। जो उन्हें चाहता है वही पाता है - **यमेवैष वृषुते तेन लभ्यः**।[१३] "बहुत ढूँढ़ने पर भी वह नहीं मिलता, परन्तु किसी को वह अनायास ही मिल जाता है।" वे बड़े ही दयालु हैं। असल बात तो यह कि उन्हें चाहता ही कौन है! "खोजोगे तो आन मिलूँगा पल भर की तलाश में" – उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि ठीक ठीक ढूँढ़ने पर वे एक क्षण में आकर दर्शन दे देंगे। परन्तु ढूँढ़ता ही कौन है? ऐसी हैं महामाया! अन्य सभी चीजों के लिए इतना व्याकुल कर रखा है कि उन्हें खोजने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। ठाकुर की वह चावल के गोदाम की कहानी है न – "बाहर एक सूप में गुड़-लाई रखी है, चूहे उसी की सोंधी-सोंधी गन्ध पाकर, वही खाकर अपना पेट भर डालते हैं। बड़े-बड़े गोदामों में जो चावल रखा है, उसकी खबर ही नहीं पाते – जबकि चावल वहीं है।" इसी प्रकार जीव स्त्री-पुत्रादि के सुख में ही मतवाला हो रहा है, भगवत्सुख का वह सन्धान ही नहीं करता, जबकि वे अन्तर में ही विराजमान हैं। ऐसी हैं महामाया!

"महामाया की कैसी प्रबल माया है, कैसा सब कुहासा कर रखा है। जब

---

१२ केनोपनिषद् २/५

१३. जो इस आत्मा का वरण करता है, उसी को इसकी प्राप्ति होती है। (कठोपनिषद् १/२/२३)

ब्रह्मा, विष्णु स्वयं ही अचेतन हो रहे हैं, तो फिर जीव की भला क्या विसात जो समझ सके! मछली जाल में पड़ जाती है, परन्तु आने-जाने की राह रहने पर भी वह उसमें से भाग नहीं सकती। रेशम के कीड़े रेशम के कोए बनाते हैं। वे चाहे तो उसे काटकर बाहर निकल सकते हैं, परन्तु महामाया के प्रभाव से वे इस प्रकार बद्ध हैं कि अपने बनाए हुए कोओं में ही जान दे देते हैं।''[१४] ऐसी है महामाया की माया!

तो भी प्रभु की अभय वाणी है –

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।[१५]
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥[१६]

श्रद्धा चाहिए – प्रभु की कृपा से श्रद्धा का उदय होने पर फिर भय नहीं रह जाता।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥[१७]

लोगों की बातों से कुछ आता जाता नहीं – यह तो स्वानुभूति का विषय है। भीतर में जो बोध होता है वह है स्वसंवेद्य – दूसरों की बातों से क्या इसमें घट-बढ़ हो सकता है? हृदय आनन्द से पूर्ण रहता है, **न शोचति न कांक्षति**[१८] प्रभु की कृपा से इसकी प्राप्ति कोई आश्चर्य की बात नहीं। दियासलाई की एक तीली से हजार वर्ष का अँधेरा कमरा क्षण भर में आलोकित हो उठता है। ठाकुर कहा करते थे, ''सभी सियारों की एक ही बोली''– अर्थात् ज्ञान होने पर सभी को एक समान ही अनुभूति होती है। उनकी उक्तियों में असंगति नहीं रहती। वे सभी माँ की सन्तान हैं। विविध मत, विविध पथ, परन्तु सभी एक ही जगह ले जाते हैं - गन्तव्य एक ही है।

---

१४. एक बँगला भजन का भावार्थ।

१५. जो मेरी शरण लेता है, वह इस माया से पार हो जाता है।

१६. हे अर्जुन, सर्वतोभावेन उन्हीं की शरण लो, उनकी कृपा से तुम्हें शाश्वत लोक की प्राप्ति होगी। (गीता १८/६२)

१७ श्रद्धावान, भगवतपरायण तथा जितेन्द्रिय व्यक्ति ही ज्ञानलाभ का अधिकारी होता है और ज्ञानप्राप्ति के बाद वह शीघ्र ही पराशान्ति में प्रवेश करता है।

.८. वह न तो किसी वस्तु के लिए शोक और न आकांक्षा ही करता है। (गीता १८/५४)

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल-नानापथजुषां।
नृणांमेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।[१९]

"चन्दामामा सभी के मामा हैं" – यह क्या सत्य नहीं है? आप भला दुर्बलचित्त क्यों होंगे? आप माँ की सन्तान और अनन्तशक्तिसम्पन्न हैं। "जिसकी माँ स्वयं ब्रह्ममयी हैं, वह भला किससे भयभीत होगा?"[२०] रामप्रसाद कहते हैं – "काली नाम की बाड़ लगाकर मैं खड़ा हूँ। रे यम, तू कटु बोलने पर सजा पाएगा। मैं माँ से शिकायत कर दूँगा। मृत्यु का दलन करनेवाली वह श्यामा बड़ी पगली औरत है। यम, मैं तुमसे कहे देता हूँ, मैं कोई अठमासा बच्चा नहीं हूँ जो तुम्हारी बातें सहन कर लूँगा। इसे बच्चे के हाथ का लड्डू न समझ लेना कि तुम उसे फुसला कर छीन लोगे।"[२०]

माँ की सन्तान को बल का कैसा अभाव ? उनकी कृपा से आपमें अनन्त शक्ति निहित है। ठाकुर कहा करते थे, "यह तो मानी हुई माँ नहीं, सचमुच की अपनी माँ है।" " माँ ब्रह्ममयी सर्वघटों में विराजमान हैं और उनके चरणों में गया, गंगा और काशी आदि तीर्थ निवास करते हैं।"[२०]

त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवी समस्तमेतत् त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः।।[२१]

ये ब्रह्ममयी ही हमारी माँ हैं; हमें किसका भय? हम भला क्यों बलहीन होंगे? जो अपने आपको दुर्बल सोचता है, वही दुर्बल हो जाता है। आप तो माँ की सन्तान हैं, आप क्यों दुर्बल होने लगे? आप महाशक्तिधर हैं। माँ की कृपा से आपके लिए असाध्य कुछ भी नहीं है। आपका 'मैं' 'मेरा' जाते भला कितनी देरी लगेगी? माँ की कृपा करके पल भर में चैतन्य कर दे सकती हैं और करती भी हैं।

ॐ

---

१९. जैसे जल का प्रवाह विभिन्न सीधे व टेढ़े मार्गों से होकर एक ही समुद्र में समा जाता है, वैसे ही अपनी रुचि के अनुरूप लोग विभिन्न पथों से चलकर आप ही को प्राप्त होते हैं। (शिवमहिम्नस्तोत्र, ७)

२०. बँगला गीतों के भावार्थ।

२१. तुम अनन्त वीर्यशालिनी वैष्णवी हो, संसार की कारणरूपा हो। हे परमात्मा-रूपी देवि, तुमने सबको सम्मोहित कर रखा है, तुम प्रसन्न हो जाने पर इस जगत् में मुक्ति का कारण होती हो। (दुर्गासप्तशती ११/५)